॥ ॐ ॥

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

बारस अणुवेक्खा

की

सरल हिन्दी भाषा टीका

टीकाकर्ता—

पं० उग्रसैन जैन एम० ए०, एल एल० बी०,

रोहतक।

प्रकाशक—

श्री बलवन्त सिंह बृज भूषण जैन रईस

हांसी (जि० हिसार)

मुद्रक—

इन्द्र सैन जैन, नेशनल प्रैस रोहतक

प्रथमावृत्ति	वीर निर्वाण सम्वत् २४७६	मूल्य स्वाध्याय
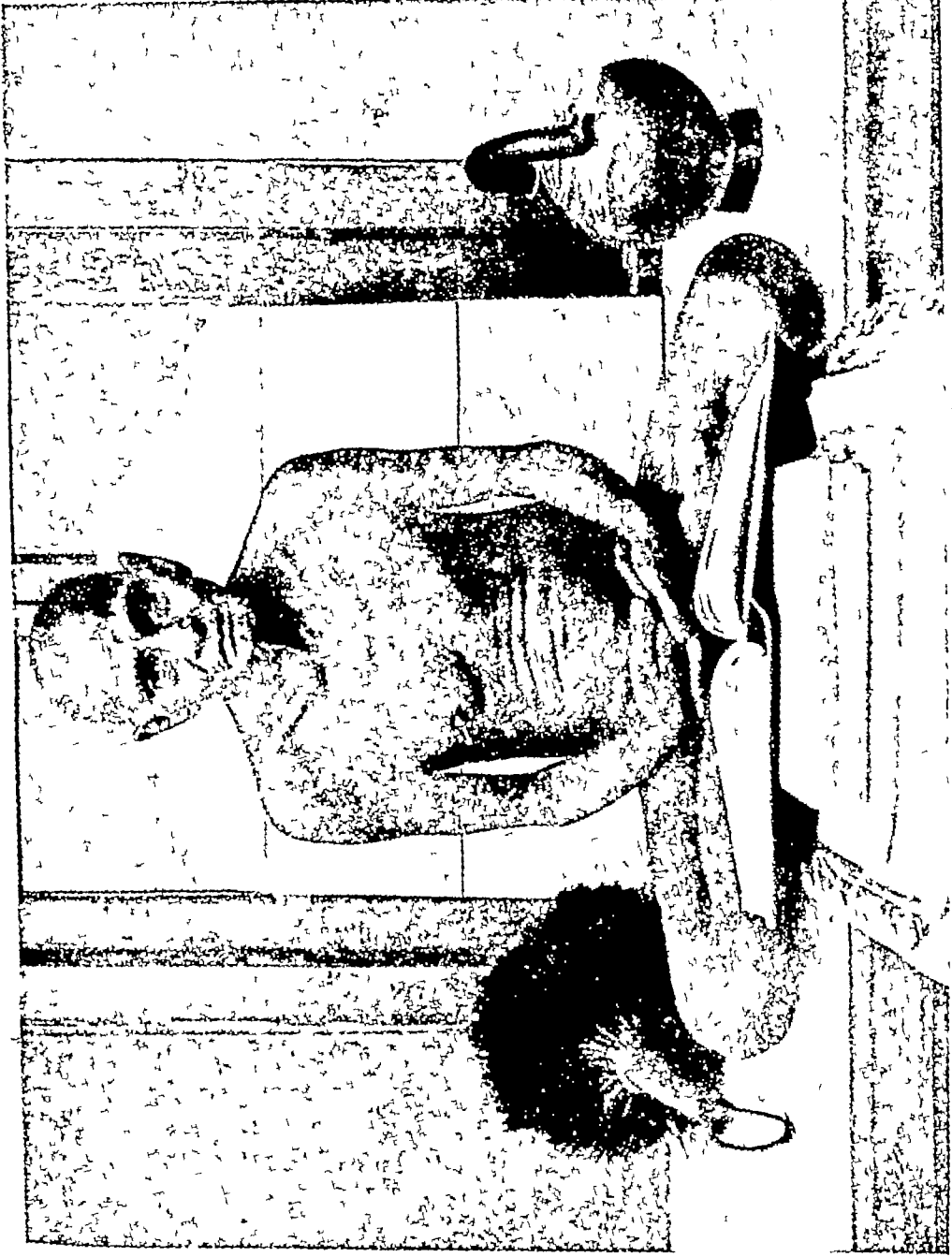
पूज्य तपोधन श्री १०८ आचार्य नमिसागर जी महाराज

चिरंजीव वृजभूषण जैन और उनकी धर्मपत्नी सौभाग्यवती लीला देवी जैन
जिन के शुभ विवाहोपलक्ष में ला० बलवन्त सिंह जी रईस हांसी ने
इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराया।

विषय सूची

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणिः।
मङ्गलं कुन्द कुन्दार्यो जैन धर्मोस्तु मङ्गलम् ॥

श्री १०८ कुन्द कुन्दाचार्य जैन समाज के प्रातः स्मरणीय विद्वान् आचार्यों में से हैं, प्रत्येक मङ्गल कार्य के प्रारम्भ में आपका नाम भगवान् महावीर के साथ साथ बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है, जैनाचार्यों में यह गौरव-पद आपको ही प्राप्त है। आचार्यवर ने अपनी चारित्र-निष्ठा, पवित्र त्याग, धर्मोपदेश तथा अध्यात्मिक साहित्य निर्माण के प्रभाव से जैन समाज का मस्तक सदैव के लिये ऊपर उठाया है, आप अध्यात्मिक साहित्य के मूलाधार समझे जाते हैं।

आपके जन्म काल का निश्चित् समय अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। ग्रन्थ प्रशस्तियों में आपके समय का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है जिससे समय का यथार्थ निर्णय किया जा सके। आपकी गुरु परम्परा भी उपलब्ध नहीं है किन्तु बोधपाहुड में आपने अपने को द्वादशांग के ज्ञाता और चौदह पूर्वो का विस्तार रूप से प्रसार करने वाले श्रुत ज्ञानी भद्रबाहु स्वामी का शिष्य सूचित किया है। भद्रबाहु आपके गमक गुरु थे इस पर से आपका जन्म सन् ईस्वी १ के लगभग समझा जाता है। अन्य विद्वानों ने भी आपका समय विक्रम सम्वत् की प्रथम शताब्दि निश्चित् किया है, प्राकृत पट्टावलि में भी स० ४६ दिया है।

आपके सम्बन्ध में बताया जाता है कि एक बार आप विदेह-क्षेत्र में वहां के विद्यमान् तीर्थंकर भगवान् श्री १००८ सीमंधर स्वामी के समवशरण में भी पहुंचे वहां आपने सिद्धांत का अध्ययन किया और साक्षात् तीर्थंकर प्रभु से पवित्र ज्ञान को प्राप्त कर उसका प्रचार किया।

आचार्य कुन्द कुन्द ने जैन धर्म के सार्वभौमिक सिद्धांतो को बड़ी दृढता के साथ संसार के सामने रखा, आपकी युक्तियां अकाट्य थीं, आप का प्रभाव सर्वमान्य था। प्राकृत भाषा के तो आप प्रचुर विद्वान् थे ही, उसके अतिरिक्त आपको तामिल भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। तामिल भाषा में आपकी सर्वमान्य रचना "कुरल काव्य" के नाम से प्रसिद्ध है जो नीति का एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। प्राकृत भाषा में आपने समयसार, प्रवचन सार, पंचास्तिकाय सार (प्राभृतत्रय), षट पाहुड़, अष्ट पाहुड़, नियम सार आदि ग्रन्थों की अपूर्व रचना की है। समय सार तो अध्यात्म विद्या के रहस्य को उद्घाटित करने वाला एक महान्, सरस, सुबोध और पूर्ण तथा अपने ढंग का एक बेजोड़ ग्रन्थ है। इसमें शुद्धात्म तत्व का विवेचन है।

"बारस अणुवेक्खा" (द्वादशानुप्रेक्षा) भी श्री कुन्द कुन्दाचार्य की ही रचना तथा देन है। इसमें अनित्यादि बारह भावनाओं का विवेचन बड़े ही सुन्दर तथा रोचक ढग से आचार्यवर ने ९१ गाथाओं में किया है। ये भावनायें संसार असारता, शरीर की अनित्यता तथा भोगो की बिजली चमत्कारवत् चंचलता और आत्मा की नित्यता का ज्ञान कराने के लिये प्रबल निमित्त कारण है। ये भावनायें वैराग्य की मातायें हैं, तीर्थंकर प्रभु भी इनका चिन्तवन कर संसार देह और भोगों से विरक्त हुवे। संसारी प्राणी के लिये ये भावनायें ही उत्तम शरण हैं।

कहा है—

भावना परिणामेषु, सिंहेश्चिव मनोवन ।
सदा जाग्रत्सु दुर्ध्यान-सूकरां न विशन्त्यपि ॥

अर्थात् मन रूप वन में भावना रूप सिंह जब तक जाग्रत सदा रहता है तब तक दुर्ध्यान रूप सूकर उस वन में प्रवेश भी नहीं कर सकते हैं ।

ये भावनायें भेद विज्ञान कर आत्मा में परम समता रूप भाव को विकसित करने के लिये अत्यन्तावश्यक साधन हैं ।

इस ग्रन्थ के महत्व के विषय में मेरे जैसा तुच्छ बुद्धि क्या कह सकता है, स्वयं ग्रन्थ के कर्त्ता पूज्य आचार्य महाराज ने ही अन्तिम गाथा से पहली गाथा में फर्मा दिया है—

किं पल वियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिह हि जेवि भविया तज्जाणह तस्स माहार्प्पं ॥

अर्थात् इस विषय में बहुत प्रलाप करने से क्या लाभ ? जितने भी महान् पुरुष भूत काल में सिद्ध हुवे हैं और भविष्य में जितने भी भव्य जीव सिद्ध पद को प्राप्त होंगे वह सब इन भावनाओं का ही माहात्म्य जानो ।

इस ग्रन्थ की कोई सरल और ज़रा विस्तार पूर्वक हिन्दी टीका दृष्टिगोचर नहीं हुई—एक बार माननीय प० नाथूराम जी प्रेमी कृत हिन्दी अन्वयार्थ बहुत दिन हुवे जैन मित्र मण्डल देहली की लायब्रेरी में जरूर देखा था, वह सक्षेप में था । फिर इस ग्रन्थ का अंग्रेजी उल्था विशेप

विवरण सहित स्वर्गीय पूज्य ब्रह्मचारी सीतल प्रसाद जी कृत जो Twelve Meditations के नाम से प्रसिद्ध है पढ़ने को मिला। उसे पढ़कर मेरे दिल में भी विचार आया कि एक सरल हिन्दी बाल बोधिनी टीका क्यों न लिखदी जावे, मेरी यह भावना सफल हुई। कई वर्ष से यह टीका लिखी रखी थी। गत वर्ष मार्गशीर्ष मास में पूज्य श्री १०८ आचार्य नमिसागर जी महाराज के दीक्षोत्सव के समय हिसार जाना हुवा तो महाराज श्री ने इसके प्रकाशित होने की इच्छा प्रकट की, यह टीका महाराज श्री के पास भेज दी गई। आपकी आज्ञा पाकर आपके **परम भक्त धर्म--स्नेही श्री बलवन्त सिंह जी पट्टीदार तथा प्रमुख रईस हांसी (जि० हिसार)** ने अपने सुपुत्र चिरंजीव **बृज भूषण** के शुभ विवाहोपलक्ष में अपनी लागत से इसे प्रकाशित कराने की स्वीकृति दी। अब आपकी ओर से ही प्रकाशित होकर यह पाठकों के पास स्वाध्यायार्थ पहुच रही है। आचार्य महाराज जी की तो असीम कृपा सदैव मेरे ऊपर बनी ही रही है और आशा है इसी भांति सदैव मैं उनकी कृपा का पात्र बना रहूगा। इसके लिये मै आपका चिर ऋणी रहूगा।

श्री बलवन्त सिंह जी की गुरु भक्ति, जिनवाणी भक्ति तथा उदारता और सद्हृदयता प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं, इनके लिये वे लेखक तथा पाठक-वृन्द के धन्यवाद के पात्र हैं।

मैंने कितनी ही पुस्तकों तथा ग्रन्थों को देखकर इस टीका को लिखा है उन सबके महानुभाव कर्ताओं के लिये मै अत्यन्त आभारी हू, विशेषतः रत्नकरंडश्रावकाचार के टीकाकार विद्वान् प० सदासुखमल जी, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुभवी टीकाकार प० जयचन्द्र जी और कर्मठ जैन धर्म भूषण ब्रह्मचारी सीतल प्रसाद जी का। इनकी रचनाओं से मुझे बड़ी सहायता प्राप्त हुई है।

मैं अपने धर्म प्रेमी, समयसार मर्मज्ञ रसिक मित्र बा० नानकचन्द जी एडवोकेट रोहतक को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ का प्रूफ संशोधन किया और यथायोग्य सुझाव इसके निर्माण और प्रकाशन के सम्बन्ध में मुझे और प्रेस वालों को प्रदान किये।

मैं अपने मित्र मास्टर बनारसी दास जी जैन और उनके सुपुत्र चिरंजीव इन्द्रसैन 'मालिक नेशनल प्रेस रोहतक' को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूं जिन्होंने बड़ी सुयोग्यता और संलग्नता के साथ इस शुभ कार्य को सफलीभूत बनाने में अपना पूर्ण सहयोग मुझे प्रदान किया।

मुझे पूर्ण आशा है कि साधारण हिंदी भाषा के जानने वाले भाई भी इसे पढ़ कर लाभ उठायेंगे—यदि मेरे इस तुच्छ प्रयत्न से स्वाध्याय-प्रेमियों को कुछ भी धर्म-लाभ पहुंच सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

रोहतक।
भाद्रपद शु० १५ वी० नि० सं० २४७९
ता० २३-९-१९५३

उग्रसेन जैन M A LL B
(गोहाना निवासी)
रोहतक।

|| ॐ नम सिद्धेभ्यः ||

श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

* बारस अणुवेक्खा *

(द्वादशानुप्रेक्षा)

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तम खविद् दीह संसारे ।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥

नत्वा सर्व सिद्धान् ध्यानोत्तमक्षपित दीर्घ संसारान् ।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश द्वौ अणुप्रेक्षाणि वक्ष्ये ॥

अर्थ—अपने परम शुद्ध ध्यान के बल से दीर्घ संसार को क्षय कर डालने वाले सब सिद्धो को तथा चौवीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके बारह भावनाओं का स्वरूप कहूगा ।

अध्धुवमसरणमेगत्तमरणसंसार लोगमसुचित्तं ।
आसव संवर णिज्जर धम्मं बोहिं च चिंते ज्जो ॥

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्य संसारो लोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवर निर्ज्जरा धर्म्मं बोधिं च चिन्तयेत् ॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, और बोधि दुर्लभ इन बारह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये ।

प्रेक्षा-ध्यान

अनुप्रेक्षा—बार बार विचार करने को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। ऊपर लिखी बारह भावनायें इस जीव का कल्याण करने वाली हैं। इन ही के स्वरूप का चिंतवन कर तीर्थंकर प्रभु संसार और शरीर भोगों से विरक्त हुए, ये भावनायें वैराग्य को जन्म देने वाली माता है, समस्त जीवों का हित करने वाली है, अनेक दुःखों से पीडित संसारी जीवों के लिये ये भावनायें ही उत्तम शरण हैं। ये भावनायें परमार्थ मार्ग को दिखाने वाली हैं, तत्त्व का निर्णय कराने वाली हैं, सम्यक्त्व को पैदा करने वाली हैं, अशुभ ध्यान को नष्ट करने वाली हैं, दुःख रूप अग्नि से तप्तायमान संसारी जीवों के लिये ये शीतल कमल वन के बीच में निवास समान हैं, इन जैसा हितु इस संसार में इस जीव का और कोई नहीं है।

१. अध्रुव भावना—इस को अनित्य भावना भी कहते हैं। इस संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। अपने २ स्वभावानुसार सब ही वस्तु अपनी २ पर्याय बदला करती हैं और कुछ से कुछ हो जाती हैं। पर्याय अपेक्षा सर्व नाशवंत है—क्षण भगुर है। ऐसा विचार करना अध्रुव भावना है।

२. अशरण भावना—जगत में किसी को कोई शरण नहीं है—कर्मों के फल से कोई बचाने वाला नहीं है। इस जीव को व्यवहार से अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पंच परमेष्टी की शरण है। निश्चय से इस जीव को एक मात्र अपनी ही शरण है, ऐसा विचार करना अशरण भावना है।

३. एकत्व भावना—यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण को प्राप्त होता है। इस ससार मे इसका कोई नहीं है, न यह किसी का है। जीव के जो कर्म अनादि काल से इससे सबध किये

चले आते हैं वह भी अपना २ फल देकर इससे जुदा होते रहते हैं। स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-कबीला, धन-धान्य, हाथी-घोड़े, मोटर, वायुयान, महल-मकान, बाग-बागीचे, नौकर-चाकर सब ठाठ यहां ही पड़े रह जाते हैं। जीव अकेला ही है, ऐसा विचार करना एकत्व भावना है।

४. **अन्यत्व भावना**—संसार के चेतन और अचेतन जितने भी पदार्थ है और जिनको यह जीव मोह वश "मेरा मेरा" कहता है, सब ही पर हैं—पौद्गलिक वस्तुयें पराई हैं, विनाशीक हैं, त्याज्य हैं, जीव पदार्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं, आपस में एक नहीं हैं, सगे-स्नेही, स्त्री-पुत्रादि भी भिन्न हैं, सब अपनी २ परणति के अनुसार प्रवर्तते हैं, इस लिये किसी से भी ममत्व नहीं करना चाहिये। इस प्रकार चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

५. **संसार भावना**—अनादि काल से यह जीव इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता फिर रहा है। कभी कोई पर्याय धारण करता है तो कभी कोई। इस प्रकार तेली के बैल की तरह तथा रहट की घड़ी की तरह घूमता रहता है। नहीं मालूम कि एक २ पर्याय को इस जीव ने पहले कितनी २ बार धारण किया है और भविष्य में मुक्त होने तक कितनी बार और धारण करेगा। राजा से रंक, रंक से राजा, रोगी से निरोगी, निरोगी से रोगी होते नित-प्रति हम अपनी आंखों से रोज देखते हैं। ऐसी २ अनेक प्रकार की विचित्रता इस संसार में हमारे सामने होती रहती हैं। अनेक प्रकार की मानसिक चिन्तायें तथा शारीरिक बाधायें संसारी जीवों को सताती रहती हैं। यह संसार दुःख का भंडार है, इस में इस जीव को कहीं भी सुख नहीं है। ऐसा चिन्तवन करना संसार-भावना है।

६. **लोक भावना**—यह लोक अनादि निधन है। न इसे किसी ने बनाया है और न कोई इसे धारण किये हुए है। यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे छह द्रव्यों से भरा हुवा है, कोई भी इसका नाश करने को समर्थ नहीं है। इस लोक की आकृति पुरुषाकार है, लोकाकाश के शिखर भाग में सिद्ध शिला है जहां अनन्त सिद्ध परमेष्ठी निवास करते हैं, इत्यादिक लोक की रचना तथा स्वरूप के चिन्तवन करने को लोक भावना कहते हैं।

७. **अशुचि भावना**—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र, अपावन, अथिर और घिनावना है। मांस, रुधिर, हाड, चाम आदिक दुर्गंधमय वस्तुओं का ही बना हुवा है, हर समय किसी न किसी रूप में इस शरीर से नौ मल द्वारों के जरिये या रोमों के जरिये मैल झरता रहता है, इसे किसी प्रकार भी पवित्र नहीं कह सकते। इसी हेतु से यह शरीर ममत्व करने योग्य नहीं है। इस शरीर द्वारा घोर तपश्चरण कर कर्मों का क्षय कर आत्मा का परम कल्याण करना ही श्रेष्ठ है। ऐसा चिन्तवन करना अशुचित्व भावना है।

८. **आस्रव भावना**—मन, वचन, काय इन तीनों योगों की चंचलताई से कर्मों का आना होता है, यह कर्मों का आना बडा दुखदाई है। यह जीव को संसार में रुलाने वाला है। मिथ्यात्व आदि जिन २ कारणों से यह कर्मों का आना होता है उनका विचार करके उनसे बचने का ही उपाय करना चाहिये। ऐसा विचार करना आस्रव भावना है।

९. **संवर भावना**—कर्मों के आस्रव को रोकने का नाम संवर है। संवर से यह जीव संसार रूपी समुद्र से पार होता है, इस

हेतु संवर के कारणों को विचार करके उन कारणों को ग्रहण करना चाहिये—ऐसा बार २ विचार करना संवर भावना है।

१०. निर्जरा भावना—पूर्व संचित कर्मों के उदय में आकर खिर जाने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के कारणो को जानकर जिस तिस प्रकार बंधे हुये कर्मों को दूर करना चाहिये, ऐसा निर्जरा संबंधी बार २ विचार करना निर्जरा भावना है।

११. धर्म भावना—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र की एकता रूप रत्नत्रय धर्म ही मोक्ष का मार्ग है। हमें अपने निज स्वभाव को अच्छी तरह जान कर अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप में दृढ़ श्रद्धा भाव रखना चाहिये। श्रावक के ग्यारह प्रतिमा रूप तथा मुनि के तेरह चारित्र रूप धर्म का पालन कर स्वात्मानुभव द्वारा अपनी आत्मा का परम कल्याण करना चाहिये। ऐसा बार २ विचार करना धर्म भावना है।

१२. बोधि दुर्लभ भावना—यथार्थ ज्ञान का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। एकेन्द्रियादि बहुत से जीवों के तो ज्ञान नाम मात्र ही होता है। पंचेन्द्रिय जीवों में भी कुछ तो असैनी होते हैं जिनमें विचार शक्ति नहीं होती, कुछ पशु आदिक होते हैं वे आत्म शुद्धि कर सकते नहीं नारकी और देव चारित्र धारण कर नहीं सकते इसी लिये उन शरीरों से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य देह से ही चारित्र का पालन कर मुक्ति प्राप्त हो सकती है। जैसे अन्धे मनुष्य के हाथ बुटेर का आना कठिन है ऐसे ही मनुष्य जीवन का मिलना दुर्लभ है, मनुष्य जन्म यदि शुभ कर्मोदय से मिल भी गया तो फिर उसमें उत्तम श्रावक कुल, धर्म

साधन के उपायों का मिलना, इन्द्रियों की परिपूर्णता, नीरोग शरीर, दीर्घायु इन सब का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। इन सब के मिल जाने पर भी धर्मोपदेश तथा धर्म साधन का समागम मिलना कठिन है। ऐसी दशा में अपने आत्म कल्याण का स्वर्णावसर यदि किसी प्रकार मिल गया है तो उसे अपना अहोभाग्य मान कर प्रमाद करना और आत्म कल्याण न करना अति मूर्खता है। यदि इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर यथार्थ ज्ञान को प्राप्त नहीं किया और अपने स्वतन्त्र निज मुक्ति पद को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया तो फिर इस नरभव का तथा मोक्ष प्राप्ति के अवसर का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है—बार २ ऐसा चिंतवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

इन बारह भावनाओं का वर्णन जिस क्रम से यहां किया गया है वह वैज्ञानिक है, उपयोगी है, उसका आधार पूज्य आचार्यवर का निज स्वानुभव है। इस क्रमानुसार इन भावनाओं के मानने वाला क्रमशः अपने मन को संसार और उसके पदार्थों से हटाता है और अपने सहज स्वरूप की ओर अपने उपयोग को लगाता है। जो मनुष्य संसार और उसके भोगों में लिप्त होता है वह संसार को असार देखता, भोगों को तथा समस्त संसारी विभूति को, ठाठ बाट को क्षण भंगुर समझने और जानने लगता है और वह इन सब की असारता को देख निश्चय करता है कि इनमें लिप्त होना, इनके पीछे २ दौड़ना, इनकी चाह में भटकना मेरी भूल है, मेरी अपनी मूर्खता है। फिर वह देखता है कि उसका शरीर भी अविनाशी नहीं है, यह भी दिनों-दिन क्षीण होता रहता है, अथिर है, विनाशीक है। उसकी आयु को क्षीण होने से रोकने वाला कोई भी नहीं है, वह अपने जीवन को क्षण भंगुर समझने लगता है। फिर वह विचारता है कि यह जीव आप ही अकेला जन्म लेता है, आपही अकेला मरता

है, आप ही नाना प्रकार की आपत्तियां, कष्ट, दुख अकेला सहन करता है, भीड़ पड़ने पर भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, दासी-दास, सगे-सनेही, मित्र आदि सब ही इसको अकेला छोड़ कर भाग जाते हैं। अपने सुख दुख तथा अपनी उन्नति या अवनति के लिये वह स्वयं ही जिम्मेवार है। फिर वह विचारता है और प्रत्यक्ष देखता है कि जगत के सब ही चेतन अचेतन पदार्थ उससे भिन्न हैं। न वे उसके हैं और न वह उनका है, न कभी वे उसके हो सकते और न वह कभी उनका हो सकता। फिर वह अपनी वर्तमान पर्याय का विचार करता है और सोचता है और जानता है कि उसका आत्मा अजर अमर अविनाशी है, फिर भी कर्म बन्ध के निमित्त से यह संसार में परिभ्रमण कर रहा है, इसे एक क्षण भर के लिये भी कहीं चैन नहीं, कहीं इसे शांति नहीं मिलती। आगे वह विचारता है कि यह जगत अनादि निधन है—कोई इसका कर्त्ता हर्त्ता नहीं है, यह षट् द्रव्यमई है। जीव बिना ज्ञान के इसमें भ्रमण करता रहता है कर्मों से रहित होकर जब यह जीव लोक के अग्र भाग में सिद्ध शिला पर विराजमान होता है तब ही यह मुक्त होता है इसे अजर अमर, अविनाशी पद की प्राप्ति होती है। फिर वह इस जीव के निवास स्थान अपने शरीर के स्वरूप का चिन्तवन करता है वह देखता है कि यह शरीर अपावन है, सदा कुधातुमय है, दुर्गन्धिमय है, मल-मूत्र से भरा है, अशुच है। मेरा आत्मा शुद्ध चिदानद रूप है, यह शरीर उस शुद्ध आत्मा का निवास स्थान होने के योग्य नहीं है, मुझे इस शरीर से मोह न ही करके इससे विरक्त होना ही योग्य है, मुझे इस शरीर से धर्म साधन कर तपश्चरण कर अपना आत्म कल्याण करना चाहिये। अब आगे विचारता है कि इस चतुर्गति रूप संसार में इन नाना पर्यायों को धारण करने तथा नाना प्रकार के सुख दुख भोगने का कारण क्या है ? सोचते २ मालुम

करता है कि उसके अपने परिणाम ही उसके भव भ्रमण तथा नाना प्रकार के दुःख सुख भोगने के कारण हैं। रागद्वेष रूप परिणामों से ही नवीन कर्म बंध होता है। तब कर्मों के आस्रव के कारणों को जान कर्मों के आस्रव को रोकने के लिये संवर का आश्रय लेता है, पूर्व संचित कर्मों को दूर करने के लिये उपाय सोचता है, उसके लिये रत्नत्रय धर्म को ग्रहण कर उसका पालन करता है। वह विचारता है कि अब ऐसा सुनहरी अवसर प्राप्त होने पर भी यदि मैं बोधि समाधि को प्राप्त नहीं होता हू तो मेरी मूर्खता है। ऐसे अमूल्य मनुष्य-जन्म रूपी रत्न को प्रमाद वश विषय भोगों में व्यर्थ गँवा देना अत्यत भूल होगी, फिर मुझे पछताना होगा, मनुष्य जन्म दुर्लभ है। इस प्रकार इन भावनाओं का विचार करने वाला बार २ चिन्तवन किया करता है। जब इन भावनाओं का श्रद्धानपूर्वक विचार किया जाता है तो यह भावनायें आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में एक सीढ़ी का काम देती हैं। एक मोही जीव को पतन के गड्ढे से उभार उसके उत्थान तथा आत्म कल्याण के मार्ग में आरूढ करने में सहायक होती हैं।

अनित्य भावना

वर भवण जाण वाहण सयणासण देवमनुवरायाणं।
मादु पिदु सजण भि च संबंधिणो य पिदि वियाणिचा॥

वर भवन यान वाहन शयनाऽऽसनं देवमनुज राज्ञाम्।
मातृ पितृ स्वजन भृत्य सम्बन्धिनश्च पितृव्योऽनित्याः॥

अर्थ—देवों के, मनुष्यों के, राजाओं अर्थात् इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के बड़े २ सुन्दर महल, सवारी, पालकी, शय्या, आसन और माता-पिता, कुटुम्बी जन, सेवक, संबंधी तथा प्रिया आदि सब ही अनित्य हैं। इनमें से कोई सदा रहने वाला नहीं है निश्चय से ये सब अथिर हैं।

सामग्गिंदिय रूवं आरोग्गं जोव्वणं वलं तेजं।
सोहग्गं लावरणं सुर धणुमिव सस्सयं ण हवे॥

समग्रेन्द्रिय रूपं आरोग्यं यौवनं बलं तेजः।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत्॥

अर्थ—सब इन्द्रियों का रूप, निरोगता, जोवन (जवानी), बल, तेज, सौभाग्य और सौन्दर्य ये सब इन्द्र धनुष की तरह सदा बने रहने वाले नहीं हैं—ये सब चंचल हैं, क्षण भंगुर हैं।

जल बुब्बुद सक्क धण खण रुचि घण सोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदि पज्जाया ॥

जल बुद्बुद् शक्र धनुः क्षण रुचि घन शोभेव स्थिरं न भवेत्।
अहमिन्द्र स्थानानि बलदेव प्रभृति पर्यायाः ॥

अर्थ—अहमिन्द्र की पदवी तथा बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती आदि की पर्यायें पानी के बुलबुले के समान, इन्द्रधनुप की शोभा के समान, विजली की चमक के समान तथा बादलों की रंग-बिरंगी शोभा के समान स्थिर नहीं होती अर्थात् थोड़े ही समय में नष्ट हो जाती है।

जीवणि बद्धं देहं खीरोदय मिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोग कारण दव्वं णिच्चं कहं होदि ॥
जीव नि बद्धं देहं क्षीरोदक मिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोग कारण द्रव्यं नित्यं कथं भवति ॥

अर्थ—जिस शरीर के साथ इस जीव का दूध पानी के समान घनिष्ट सम्बन्ध चला आ रहा है, जब वह शरीर ही शीघ्र नष्ट हो जाता है तो भोग तथा उपभोग के कारण रूप-पदार्थ कैसे स्थिर हो सकते हैं?

परमट्ठेण दु आदा देवासुर मणुवराय विहवेहिं।
वदि रित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥
परमार्थेन तु आत्मा देवासुर मनुज राज विभवैः।
व्यति रिक्तः स आत्मा शाश्वत् इति चिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चय नय से आत्मा का स्वरूप सदैव ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि यह आत्मा देवों तथा असुर कुमारो के स्वामी इन्द्र तथा मनुष्यों के स्वामी चक्रवर्ती के वैभव से भिन्न है—आत्मा सदा शाश्वत है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उपर्युक्त गाथाओ में अनित्य भावना का वर्णन किया है—यह संसार, शरीर, इन्द्रियां, इन्द्रियो के भोग तथा शरीर संबंधी अनेक प्रकार के सम्बन्ध सब ही विनाशीक है, बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते हैं। जगत का सब ही ठाठ विनाशीक है क्षण भंगुर है। धन-धान्य, मनुष्य, पशु आदिक पदार्थ जो सवेरे के समय देखने में आते हैं ये संध्या समय में देखने मे नही आते, आंखों के सामने नष्ट होते दिखाई देते हैं। बडे २ इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियो के महल, मकान, मोटर, हाथी, घोडे, शयनासन पल की पल में नष्ट हो जाते हैं तो साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? राज्य, सम्पदा, जमींदारी, हाट, हवेली, कोठी-बंगले इत्यादि समस्त परिग्रह का संबंध स्थायी नहीं है, क्षण भंगुर है। इनके स्वामीपने का अभिमान करते २ अनेक मौत के गाल में जा चुके हैं, अनेक जा रहे हैं, आज युद्ध में हम प्रत्यक्ष अपनी आंखो देख रहे हैं, आज एक राष्ट्र नष्ट होता है तो कल दूसरा, आज एक देश पर एक राजा अपने बल से अपना आधिपत्य जमाता है तो कल दूसरा उस पर आक्रमण करके, यदि बलवान है, तो उसे वहां से भगा कर वहां अपना आधिपत्य जमा लेता है। यदि स्वयं निर्बल होता है तो अपनी सेना तथा शक्ति का विध्वंस करा वहां से भागता है, अपने राज्य को भी खो बैठता है, जान तक के लाले पड़ जाते हैं। यह सब विभूति क्षण भंगुर है, इससे क्या प्रीति की जावे, जो मोह वश इसके स्वरूप को न जान इसे अपनाता है वह अवश्य अन्त में पछताता है और दुख को प्राप्त होता है।

माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी जन, दासी-दास, मित्र आदि इन सब का सम्बन्ध भी स्थाई नहीं है—जैसे गर्मी के मौसिम में एक चोराहे के बीच खडे हुवे घनी शीतल छाया वाले वृक्ष के नीचे अनेक ग्रामों से आने जाने वाले मुसाफिर कुछ देर आराम करके अपने २ देश को चले जाते हैं वैसे ही कुल रूप वृक्ष की छाया में भिन्न २ पर्यायों से आये हुवे जीव अपने २ आयुक्रम के अनुसार वहां ठहर कर अपने २ कर्मानुसार बांधी हुई अगली गति में जाकर नवीन देह को धारण कर लेते हैं। संसार के ये सब सम्बन्ध स्वार्थ के है, क्षण भगुर हैं। किसकी माता, किसका पिता, किसका पुत्र, किसकी स्त्री, किसका भाई ? जब तक स्वार्थ सधता दिखाई देता है सब मेरा २ कहते हैं, जब स्वार्थ सधता दिखाई नहीं पड़ता, सब आंखें चुराने लगते हैं, दूर दूर हो जाते हैं, अच्छे से बुरे मन हो जाते हैं, कितने ही तो कषाय के वशीभूत हो अपने प्राणों का घात कर बैठते हैं, मुकदमे बाजी पर उतर आते हैं, क्षण भर में सब सम्बन्ध नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

यह शरीर, इन्द्रियां, निरोगता, जोबन, बल, तेज, सौभाग्य, सौन्दर्य शास्वत नहीं हैं, क्षण भगुर हैं, बिजली के चमत्कारवत् नाश को प्राप्त हो जाते हैं—क्षण २ में आयु व्यतीत होती रहती है, बालपने से जवानी आती है, जवानी से बुढापा आता है। मोह के वश माता कहती है मेरा पुत्र युवान हो रहा है, मृत्यु कहती है यह मेरे नेरे (नजदीक) आ रहा है। ज्यों २ बुढ़ापा नजदीक आता है, शरीर निर्बल होता चला जाता है, इन्द्रियां शिथिल होती चली जाती हैं—सब ही अगोपांग ढीले ढाले हो जाते हैं। रूप का नाश हो जाता है, शरीर की चमक दमक जाती रहती है, नाना प्रकार के रोग शरीर को आ घेरते हैं—सब बल, सब तेज क्षीण हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष हम देखते हैं कि इस जीवन में हमारे शरीर की

कितनी और कैसी २ अवस्थाये होती हैं। कर्मोदयानुसार कभी सुख होता है तो कभी दुःख। जिनके आज पुण्य के उदय से सुख की सामग्री—धन, सम्पदा, निरोगता, सन्तान आदि दिखाई पड़ती है कल वे ही पुण्य कर्म के क्षय हो जाने पर इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग के कारण रोते, हाहाकार करते, विलाप करते दिखाई देते हैं। ऐसी दशा जब संसार की है तो फिर किसको अपना समझें, किससे प्रीति करें, शरीर से क्या मतलब करें, यह हमें एक दिन अवश्य छोड़ जावेगा। इसकी दशा कच्चे घड़े की-सी है—जरा सा निमित्त मिलने पर उसके टूटने या गल जाने का भय लगा रहता है। ऐसे ही जो शरीर, इन्द्रियों के स्वरूप को नहीं समझते उन्हें इनके नाश का भय लगा रहता है। यह उनकी भूल है। शरीर और इन्द्रियों को नाशवान अनित्य जान इनसे अपने आत्म कल्याण का साधन करना चाहिये। इन पर अभिमान क्या करे ?

अहमेन्द्रपद, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्ती की पर्याय भी क्षण भंगुर है, सदा बनी रहने वाली नहीं है। जब तक पुण्य कर्म का उदय है यह विभव बना रहता है, आयु के पूर्ण हो लेने पर वह भी दूसरे शरीर को धारण कर लेते हैं। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में सांसारिक जीवों की सब ही पर्यायें—क्या ऊंची और क्या नीची—नाशवंत हैं, अथिर हैं। इन क्षण भंगुर बिजली के चमत्कारवत् तथा जल के बुदबुदे सरीखी शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाने वाली पर्यायों तथा दशाओं के पीछे क्या भाग-दौड़ करनी ? इनसे उदासीन हो जो स्थायी है, जो हमारी अपनी वस्तु है, जिसमें न जन्म है न मरण है केवल उसको प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना योग्य है।

जीव का और शरीर का घनिष्ट सम्बन्ध होता है, दोनो ऐसे एकमेक

हो रहे हैं जैसे दूध और जल मिलकर एक दिखाई देते हैं परन्तु आयु कर्म के अन्त होने पर यह संबंध टूट जाता है और आत्मा इसे छोड़ कर चला जाता है—जब आत्मा का शरीर के साथ ही स्थाई संबंध नहीं है तो भोग तथा भोगोपभोग के पदार्थों का संबंध आत्मा के साथ कैसे स्थायी हो सकता है ? यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि यह जीव आयु समाप्त हो जाने पर एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण करता है तो इसके सब संबंध टूट जाते हैं, भोग तथा भोगोपभोग की चेतन अचेतन सब सामग्री यहां ही पड़ी रह जाती हैं। इनमें से कोई भी इसके साथ नहीं जाती, यह शरीर भी यहां ही रह जाता है, या तो दग्ध करके इसकी भस्मि बना दी जाती है या किसी और तरह से गल सड़ कर यह और पर्याय में बदल जाता है। जब ऐसी दशा है तो इन अनित्य पदार्थों से क्या ममत्व करना ? जो हमारी अपनी वस्तु है, स्थायी है, अविनाशी है अर्थात् हमारी अपनी शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा उसी का ध्यान करना योग्य है। परपदार्थों का सम्बन्ध अनित्य है, छूट जाने वाला है उनके संयोग वियोग में क्या हर्ष विषाद करना।

निश्चय नय से देखा जावे तो आत्मा का शुद्ध स्वभाव देवों, असुरों, मनुष्यों तथा राजा-महाराजाओं की सब ही विभूति से सर्वथा भिन्न है, आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप है, अविनाशी तथा शाश्वत है, वास्तव में पुद्गल संबंध से होने वाले सर्व ही भाव व परिणाम इस आत्मा के नहीं हैं। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भाव कर्म तथा शरीरादि नो कर्म यह सब अध्रुव हैं, आत्मा का इनके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, न कभी हुवा और न होगा। निश्चय से आत्मा एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक अविनाशी स्वभाव का धारक है। यह जीव द्रव्य की अपेक्षा से टङ्कोत्कीर्ण थिर रूप है तो भी पर्यायार्थिक अपेक्षा से अथिर है। इस आत्मा का स्वभाव

नित्य अनित्य रूप है। द्रव्यार्थिक नय से विचारा जावे तो अपनी सम्पूर्ण पर्यायो में एक आत्मा ही है। पर्यायार्थिक नय से विचारा जावे तो प्रत्येक पर्याय में भिन्न २ रूप हैं। क्योंकि जैसा एक पर्याय में था वैसा दूसरी पर्याय में नहीं है। (एक मनुष्य बाल्यावस्था में से युवावस्था में आया, द्रव्य की अपेक्षा से तो वही युवान है जो बालक की अवस्था में था, परन्तु पर्याय की अपेक्षा वह बालक बालक ही था, युवान युवान ही है। इसी तरह यह जीव अपने शुभ या अशुभ भावों से जो कर्म बांधता है उसका जब उदय आता है तब मनुष्य भव से देव गति या नर्क गति में जाता है वहां जीव अपने कर्मोदयानुसार सुख या दुख का अनुभव करता है, अथवा कोई जीव इस मनुष्य भव में शुद्धात्मा का अनुभव स्वरूप ध्यान का अभ्यास करता है, वही जीव कर्मों को क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होता है और सिद्धालय में जाता है, सिद्ध परमात्मा कहलाता है। इन तीनों ही विषयों में जिस जीव ने कर्म किया था या मोक्ष का उपाय किया था वही जीव कर्मों के फल को व मोक्ष के आनन्द को भोग रहा है, द्रव्य की अपेक्षा से वही जीव है।) (पर्याय की अपेक्षा से विचार किया जावे तो मनुष्य भव में तो वह मनुष्य था अब देव व नर्क गति में वह देव या नारकी हुवा या सिद्धालय में सिद्ध हुवा इस प्रकार न तो जीव सांख्य मत की तरह कूटस्थ नित्य है और न बौद्ध मत की तरह अनित्य व क्षणिक है—कथंचित द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, कथंचित पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। अब यहां प्रश्न होता है कि जब जीव सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है तो वहां तो वह निरन्तर निश्चल तथा विनाश रहित जो शुद्धात्मा का स्वरूप है उसी में रमण करता है, इससे भिन्न जो नर, नारक, पशु आदि गतियों में भ्रमण है वह वहां नहीं तो फिर "गुण पर्यय वद् द्रव्यम्" सूत्र के अनुसार सिद्ध आत्मा में पर्याय का अभाव मानने से द्रव्यत्व ही नहीं रहेगा सिद्धों में फिर उत्पाद व्यय कैसा माना जावे? इसका साफ उत्तर यही है कि

सिद्धों में भी उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व तीनों बातें पाई जाती हैं। शुद्ध दर्शन ज्ञान गुण की अपेक्षा से ध्रुवत्व है ही। अगरु लघु आदि षट गुण हानि वृद्धि स्वरूप से अर्थ पर्याय हैं उनकी अपेक्षा से उत्पाद व्यय है। अथवा जिस २ उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप को लिये हुवे ज्ञेय पदार्थ परिणमते हैं उनकी परिच्छिचि के आकार से निरिच्छकवृत्ति से सिद्धो का ज्ञान भी परिणमता है, इस अपेक्षा से भी उत्पाद व्यय सिद्धात्मा में है। सिद्धो मे व्यजन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश, सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य पाया जाता है। इस प्रकार एक सम्यक् दृष्टि जानता है कि द्रव्यपने से जीव हमेशा टंकोत्कीर्ण ध्रुव रूप रहता है और पर्यायों की अपेक्षा से उसमें अनित्यता पाई जाती है। ऐसा निश्चय से जान एक सम्यक् दृष्टि विचार करता है कि शुद्धात्मा को छोड़ अन्य सब ही पंचेन्द्रिय विषय रूप पदार्थ नाशवान हैं, मन, वचन, काय के सब ही व्यापार विनश्वर हैं, देहादि सब ही सामग्री विनाशीक हैं। धन-धान्य, घर-सम्पदा, दासी-दास, स्त्री-पुत्र आदि सब ही क्षण भगुर हैं, जगत की सकल विभूति अनित्य है। इनका यथार्थ स्वभाव जान कर इन से ममत्व भाव को छोड़ना और सकल विभाव परिणति रहित शुद्धात्म पदार्थ की भावना करना ही ज्ञानी पुरुषों के लिये श्रेयस्कर है। इस भावना के भाने से ससार की असारता का बोध होता है, मोह के बन्धन ढीले पड़ते हैं, रागद्वेष रूप परिणाम दूर होते हैं, हिसा परिणामों का अभाव होता है, परोपकार के भाव होते हैं, धर्म भावना जागृत होती है, आत्म बल बढता है, मनुष्य का जीवन ऊपर उठता है, परिणाम उज्ज्वल होते हैं, परपदार्थों में लिप्तता नही होने पाती। जो कोई ममत्व का अभाव कर अविनाशी निज आत्मा को ही भेद अभेद रूप रत्नत्रय की भावना से भायन करता है वह ही कर्म बन्धन को तोड अक्षय अनन्त सुख रूप स्वभाव के धारक सिद्ध पद को प्राप्त होता है।

दोहा—द्रव्य दृष्टि तैं वस्तुथिर, पर्यय अथिर निहार ।
उपजत विनशत देख कैं, हर्ष विषाद निवार ॥

(जयचन्द्र)

छन्द—जोबन गृह गोधन नारी, हयगय जन आज्ञाकारी ।
इन्द्रीय भोग छिन थाई, सुर धनु चपला चपलाई ॥

(दौलत राम)

दोहा—राजा राणा छत्रपति, हथियन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार ॥

अपनी अपनी बार सर्व प्राणी जु अवश्य मर जावे ।
अन्य समस्त पदार्थ जग में कोऊ थिर न रहावे ॥
ये पर वस्तु मोह वश रागरु द्वेष बढावे ।
तातैं पर में राग रोप तजु ज्यो उत्तम पद पावे ॥

(भूधर दास)

गगन नगर सम तूल संग बल्लभ जन केरो ।
जलद पटल के तुल्य रूप जोबन धन तेरो ॥
स्वजन पुत्र तन आदि बीजरी सम चमकारा ।
छिन भंगुर संसार वृत्ति सब है निरधारा ॥

(नथमल)
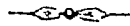
अशरण भावना

मणिमंतोसहरक्खा हयगय रहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरण समयम्हि ॥
मणि मंत्रौषधरक्षाः हय गज रथाश्च सकल विद्याः।
जीवानां न हि शरणं त्रिषु लोकेषु मरण समये ॥

अर्थ—मरते समय जीवों के तीनों लोक में मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ, तथा सर्व विद्यायें शरण नहीं होती अर्थात् ये कोई भी प्राणियों को बचाने मे समर्थ नही होती।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चादेवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥
स्वर्गो भवेत् हि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरणं वज्रम्।
ऐरावणो गजेन्द्रः इन्द्रस्य न विद्यते शरणं ॥

अर्थ—जिस इन्द्र का स्वर्ग तो किला है, देव नौकर चाकर हैं और वज्रमयी हथियार हैं तथा ऐरावत जैसा हाथी है उसके लिये भी (मृत्यु से) कोई शरण नहीं है। अर्थात् इतनी श्रेष्ठ सामग्री इन्द्र के पास होते हुये भी उसे मृत्यु से बचाने के लिये कोई समर्थ नहीं है, तो हे दीन ससारी जीवो! तुम्हें मृत्यु से कौन बचा सकता है?

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंद चाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले ॥
नवनिधिः चतुर्दश रत्नं हय मत्त गजेन्द्र चतुरङ्ग बलम् ।
चक्रेशस्य न शरणं पश्यत कर्दिते कालेन ॥

अर्थ—(हे भव्य जीवो !) देखो मृत्यु द्वारा आक्रमण किये जाने पर जिस चक्रवर्ती के नौ निधि, चौदह रत्न, घोड़े, मस्त हाथी तथा चतुरंग सेना आदि सामग्री मौजूद हैं उसे भी बचाने के लिये कोई समर्थ नहीं है। अर्थात् चक्रवर्ती का अपार वैभव भी मृत्यु के समय उसे बचा नहीं सकता।

जाइ जर मरण रोग भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बंधोदय सत्तकम्मवदिरित्तो ॥
जाति जरा मरण रोग भयतः रक्षति आत्मनः आत्मा।
तस्मादात्मा शरणं बन्धोदय सत्व कर्म व्यति रिक्तः ॥

अर्थ—आत्मा जन्म, जरा, मरण, रोग तथा भय से अपनी रक्षा आप ही करता है, इस लिये बन्ध, उदय, सत्व रूप कर्मों से मुक्त आत्मा ही (केवल वास्तविक) शरण है।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥
अर्हन्तः सिद्धाः आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः ।
तेपि हि तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मात् आत्माहि मे शरणम् ॥

अर्थ—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांचों परमेष्टी आत्मा का ही अनुभव करते हैं। इस लिये मेरे को भी एक निज आत्मा ही शरण है। अर्थात् अरहन्तादि अवस्था रूप पंच परमेष्टी आत्मा की अपनी ही अवस्थायें हैं, जो आत्मा ने निज पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का नाश करके स्वय प्राप्त की हैं, इस लिये मुझे भी एक अपनी ही आत्मा की शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम्॥

सम्यक्त्वं सद्ज्ञानं सच्चारित्र च सत्तपश्चैव।
चत्वारि तिष्ठन्ति आत्मनि तस्माद् आत्माहि मे शरणम्॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मा में ही विराजमान हैं इस लिये निश्चय से केवल (मेरा अपना) आत्मा ही मेरे लिये शरण है।

संसार की विचित्र दशा है, तीन लोक में जितने भी प्राणी हैं सब ही काल के आधीन हैं, जब काल आता है तो वह यह नहीं देखता कि उसका शिकार कौन है, राजा है या रंक, पुरुष है या स्त्री, बालक है या बूढ़ा, बलवान है या निर्बल। जैसे सिंह हरिण को वन में आ दबोचता है वैसे ही काल देव, असुर, चक्रवर्ती आदि सब को ही आ दबोचता है। उस समय में मणि, यत्र, तंत्र, औषधि, हाथी, घोडे, रथ, प्यादे सब ही रखे रह जाते हैं, कोई भी उस समय काल से इस जीव की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है। धन, सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर, भाई-बन्धु, स्त्री-

पुत्र आदि कोई भी तो यम से रक्षा नहीं कर सकता, उनके देखते देखते उनकी उपस्थिति में उनकी आंखों के सामने प्राण पखेरू उड़ जाता है, जीव रूपी हंस इस शरीर रूपी सरवर को छोड़ कर भाग जाता है—यह जीवन मरण आयु कर्म के आधीन है, जब आयु कर्म समाप्त हो जाता है तो यह जीव वर्तमान पर्याय को छोड़ दूसरी नवीन पर्याय को धारण करता है, वर्तमान पर्याय के छोड़ने का नाम मृत्यु है, नवीन पर्याय सम्बन्धी शरीर धारण करने का नाम जन्म है, यह जन्म मरण का सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है, जब तक यह जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता उस समय तक यह जन्म और मरण के दुःख भोगता ही रहता है। कोई भी प्राणी इस जन्म मरण से नहीं बचा है।

अनेक आपत्ति संकट जीवों पर आते हैं, उस समय यह जीव उस कर्मोदय के निमित्त से दुःख सुख सहन करते हैं, उस समय उस दुःख से बचाने वाला कौन है, जीव को किसकी शरण है ? जीव का पाप पुण्य ही उसका कारण है, कहा भी है—"सुख दुख दाता कोई नहीं जीव का पाप पुण्य है कारण वीरा"। अपने ही किये कर्मों के फल को भोगता है। उस समय में इसको किसकी शरण है ? शरण है तो व्यवहार में पंच परमेष्टी की तथा केवली प्रणीत धर्म की और निश्चय से अपने ही शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा की।

साधारण पुरुषों का तो कहना ही क्या है ? आयु पूर्ण होने के समय इन्द्र का पतन क्षण मात्र में हो जाता है। जिस का निवास स्वर्ग रूपी किले में है, जहां किसी शत्रु का प्रवेश तक भी नहीं हो सकता, जिसकी सेवा में असंख्यात आज्ञाकारी देव नौकर चाकर के रूप में खड़े रहते हैं, वज्रमयी जिसके हथियार हैं और जिसकी सवारी का हाथी ऐरावत है, जिसका वैक्रियक शरीर रोगादिक क्षुधा तृषादिक उपद्रव रहित होता है और जिसके बल पराक्रम की कोई गिनती नहीं ऐसा इन्द्र भी काल का ग्रास हो जाता

है, कोई भी बचाने में समर्थ नही होता सब ही सहायक और रक्षक खडे खडे लखाया करते हैं।

चक्रवर्ती की सम्पदा से बढ कर मनुष्यों मे किसकी सम्पदा होती है, जिसके नौ निधि और चौदह रत्न होते है, जिसके चतुरग सेना होती है, जिस सेना मे अठारह करोड घोडे, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ तथा चौरासी करोड़ प्यादे होते हैं जिसके सामने कोई शत्रु टिकता नहीं, जो छह खंड का एक छत्र राज्य करता है इत्यादि जिसकी विभूति होती है, जब ऐसा चक्रवर्ती भी काल से नही बचता काल का ग्रास हो जाता है तो साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या है ?

भूमि पर अनेक ऐसे २ विख्यात बलवान महा पुरुष हो गये हैं कि जिन की हुकार मात्र से शत्रु कुल कांपता था, जिनके चलने से पृथ्वी धसने लगती थी, जिनके मुष्टि प्रहार से पर्वत तक चूर २ हो जाते थे, उनका भी कोई पता नहीं, वह भी काल विकराल का शिकार हो गये तो फिर दीन हीन साधारण शक्ति के धारक ससारी प्राणियो की क्या दशा ? मृत्यु से बचाने वाला कौन ? दुःख सकट में शरण देने वाला कौन ? आपत्ति मे सहायक कौन ? क्योंकि जिन देवों को या जिन बलवान पुरुषों को यह जीव अपना मानता है या समझता है, वे स्वय मृत्यु के वशीभूत हैं। मृत्यु के निर्धारित समय को बदलने में कोई समर्थ नहीं है।

(ससार में जीव जैसे कर्म बांधता है उनके फल को ही भोगता है, पूर्व बधे हुवे कर्म अपने समय पर उदय में आकर फल देते हैं, यह ससारी जीव उस कर्मोदय के समय हर्ष विषाद कर नवीन कर्मों का बंध करता है फिर वह कर्म उदय मे आते हैं और अपना फल देते हैं, इस प्रकार से यह सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है—जब तक कर्म बंध होता है, वे कर्म उदय में आकर फल देते रहते हैं, जीव उस कर्मोदय के फल भोगने में राग द्वेष

रूप परणति करता रहता है यह संसार में फंसा रहता है, इसे संसार से छुटकारा नहीं मिलता—अपने ही कर्मों के द्वारा यह अपने को सुखी दुखी बनाता रहता है, जब स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वकीय कर्मों के बन्धनों को तोड़ फेंकता है, तो स्वतन्त्र हो जाता है, अनन्त स्वाभाविक बल प्रगट हो जाता है। इसको किसी की शरण की आवश्यकता नहीं, यह तो स्वयं अपनी शरण आप है। वास्तव में जन्म, जरा, मरण, रोग, भय, शोक, चिन्ता आदि जितनी व्याधियां हैं यह सब वेदनायें कर्मजनित हैं, कर्मों का बंध, उदय, सत्ता ही इनका कारण है। जब आत्मा कर्म रहित हो जाता है तो उसमें कर्मों के बंध, उदय और सत्ता को स्थान कहां ? इस लिये निश्चय से शुद्ध आत्मा ही इस जीव की शरण है। सम्यक् दृष्टियों के लिये उनकी आत्मा का अपने शुद्ध चिदानन्द रूप स्वभाव में रमण करना ही शरण है। सम्यक् दृष्टि अशरण भावना का चिन्तवन करता है, वस्तु स्वरूप को जानता है, इसी लिये उसे कोई भय नहीं होता, वह निर्भय रहता है, वह बड़ा साहसी होता है, यदि कहीं कोई ऐसा वज्रपात हो कि जिसके होने पर तीन लोक के प्राणी भयभीत हो अपने प्राणों की रक्षा के लिये इधर उधर भाग जावें, तो भी वह सम्यक्ती महात्मा निशंक हो अशरण भावना का चिन्तवन करता हुवा अपने आपको अविनाशी, अजर अमर ज्ञान तथा ज्ञान शरीरी अनुभव करता हुआ अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता। वह विचारता है प्राणों के वियोग को मरण कहते हैं, नियम से इस आत्मा का प्राण ज्ञान है, वह स्वयं ही नित्य है, उसका कभी नाश होता ही नहीं तब उस ज्ञान प्राण का मरण कदापि नहीं हो सकता, इस लिये मरण का भय कैसा ? वह निःशंक रहता हुवा अपने सहज ज्ञान का ही स्वाद लेता है। वह चिन्तवन करता है सब को सदा ही अपने किये हुवे पाप पुण्य के उदय से दुःख सुख होता है, दूसरे ने दूसरे को मार डाला, जिलाया या

दुःखी सुखी किया ऐसा मानना अज्ञान है, जब तक अपने आयु कर्म का छेद नहीं होता, मरण नहीं हो सकता। मेरे अपने ही बांधे हुवे साता असाता कर्म के उदय से मुझे सुख दुःख होता है। वह विचारता है कर्म मुझ से भिन्न है वह जड है मैं चैतन्य हू उनके उदय से जो सुख दुःख कार्य होता है वह भी मुझ से भिन्न है, वह मेरा कुछ विगाड़ नही कर सकते हैं हर्ष विषाद क्यों करूं ? मुझे चाहिये कि रागद्वेष के त्याग रूप साम्य भाव महा मत्र द्वारा शुभाशुभ कर्म रूपी दुष्ट राक्षसों को कील दू, ताकि वह मेरा कुछ विगाड़ न कर सकें। जब मैंने एक बार समता भाव धारण कर लिया तो पाप पुण्य कर्म आदि उदय मे आकर अपना फल भी देवें तो मै विचलित नही हो सकता, वे मुझे आकुलित नहीं कर सकते, मुझे किसी अन्य की क्या शरण ? मैं स्वयं ही अपनी शरण हू मेरी आत्मा में अनन्त बल है, उसी के सहारे मै समस्त आपत्तियों को निर्मूल करने में समर्थ हू।

व्यवहार में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पच परमेष्टियों की जीव को शरण होती है वास्तव में देखा जावे तो यह भी आत्मा की अपनी ही अवस्थायें है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारो घातिय कर्मों का नाश कर देने पर अर्हन्त अवस्था या जीवन्मुक्त परमात्मा की दशा प्रगट होती है, समस्त कर्मों का नाश कर देने पर सिद्ध परमात्मा होता है, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्टी मोक्ष मार्ग का साधन करते है साधन करते २ कर्मों का क्षय कर वे भी परमात्मा पद को प्राप्त होते है। आचार्य कहते हैं कि इनकी सेवा भक्ति करने से हमे पुण्य बंध अवश्य होता है, जिसका फल फिर हमें ससार मे भोगना पड़ता है, यदि उनके गुणों का चिन्तवन कर उन ही जैसा बनने की भावना हम करते है तथा अपनी आत्मा को उनके समान ही देख और जान कर आत्मानुभव तथा

आत्म-तल्लीनता द्वारा अपने कर्मों को क्षय कर डालते हैं तो हम स्वयं परमात्मा बन जाते हैं। इस परमात्मा पद की प्राप्ति का मुख्य कारण सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप है, ये चार आराधनायें हैं, इन चार आराधनाओं के साधन से ही मोक्ष होता है इस लिये यह भी शरण हैं।

"सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रानुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता होना मोक्ष मार्ग है। इन्हीं को रत्नत्रय कहते हैं। यह रत्नत्रय धर्म निश्चय तथा व्यवहार नय की अपेक्षा दो प्रकार का है। निश्चय नय से शुद्धात्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है, शुद्धात्मा के यथार्थ स्वरूप का जानना सम्यक् ज्ञान है और शुद्धात्मा के स्वरूप में रमण करना सम्यक् चारित्र है। य भी कह सकते हैं कि श्रद्धा और ज्ञान सहित आत्मध्यान का करना, आत्मा में तल्लीन होना ही मोक्ष मार्ग है। व्यवहार में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्वों के श्रद्धान को सम्यक् दर्शन, केवली भगवान द्वारा प्रतिपादित आगम के ज्ञान को व्यवहार ज्ञान कहते हैं। अशुभ मार्ग की निवृत्ति शुभ मार्ग मे प्रवृत्ति व्यवहार सम्यक् चारित्र है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष मार्ग है, व्यवहार रत्नत्रय परम्परा मोक्ष मार्ग है। इस रत्नत्रय धर्म का पालन मुनिराज पूर्णतया किया करते हैं और ग्रहस्थ एकोदेश करते हैं।

निश्चय रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र क्या है, यह आत्मा का अपना ही निज धर्म है आत्मा का अपने द्वारा अपने शुद्धचिदानन्द स्वरूप को निश्चय करके तथा जान करके उसमें ही तल्लीन होना निश्चय रत्नत्रय है, यह कोई आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा में ही है। सम्यक् तप सम्यक् चारित्र में ही गर्भित है, इच्छाओं के

निरोध करने का नाम ही तो तप है, तप आत्मा में से कर्म मल को दूर करने के लिये बड़ा जरूरी है। चिर काल के बधे हुवे कर्म रज तप के द्वारा धुल जाते हैं। ऐसा सम्यक् तप का प्रभाव जान कर तप के द्वारा नित्य ही शुद्ध आत्म तत्व की भावना करनी योग्य है।

इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में परिणत निज शुद्धात्म द्रव्य तथा उसका बहिरंग सहकारी कारण भूत पंच परमेष्टी का आराधन ही शरण है। उन को छोड देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटीभट, पुत्र, स्त्री, भाई बन्धु आदि चेतन, किला, गुफा, भोंहरा, मणि, मंत्र, तंत्र, महल, औषधि आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन अचेतन इन दोनों से मिश्र पदार्थ, ये सब मरण समय तथा अन्य आपत्ति काल में जीव के किसी प्रकार भी शरण नहीं होते हैं जैसे कि महावन में एक सिंह द्वारा दबोचे हुवे हिरण के बच्चे को या महा समुद्र में जहाज से गिरे हुवे को कोई शरण नहीं होता है। अन्य किसी भी वस्तु को अपना शरण न जान, भोगों की वांछा रूप निदान बंध आदि के अवलम्बन रहित, निजात्म ज्ञान द्वारा उपत्न्न सुख रूप अमृत का धारक एक जो निज शुद्धात्मा है, उसी का अवलम्बन लेना चाहिये और उसकी भावना करनी चाहिये। जो जैसे की भावना करता है वैसा ही स्वय बन जाया करता है, वह सब काल में शरण भूत तथा शरण में आये हुवे के लिये वज्र के पिंजरे के समान जो निज शुद्धात्मा है उसको अवश्य प्राप्त होता है।

इस भावना के भाने से कायरता दूर होती है, जीव निर्भय बनता है, पराधीनता का भाव आत्मा से दूर होता है—आत्म बल बढता है, वीरता आती है। यह भावना मृत्यु का भय दिल से निकाल फेंकती है, सुमरण के लिये मनुष्य को तय्यार करती है और पर बन्धनों से रहित कर मनुष्य को स्वावलम्बी तथा स्वाधीन और स्वतन्त्र बनाती है। याचना, गिडगिड़ाना, खुशामद, चापलसी दीन हीनता आदि गिरावट के कारणों से बचा मनुष्य

के जीवन को ऊंचा बनाती है—मनुष्य के परिणामो को उज्ज्वल बनाती है, संसार और इन्द्रियो के विषय भोगो से विरक्त करती है—मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ करती है—परपराय से मोक्ष पद को प्राप्त कराती है। ऐसा जान अशरण भावना का चिन्तवन प्रत्येक मुमुक्षु को करना योग्य है।

दोहा—वस्तु स्वभाव विचार तैं, शरण आपकूं आप।
व्यवहारे पण परम गुरु, अवर सकल संताप ॥

(जयचन्द्र)

छन्द—सुर असुर खगाधिप जेते, मृगज्यो हरि काल दलेते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई ॥

(दौलत राम)

दल बल देवीं देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखनहार ॥

कोई न राखनहार जीव के जब अन्तिम दिन आवै।
औषधि यत्र मंत्र को शरना गहे भी कोई न बचावै ॥
रत्नत्रय धर्म ही एक शरण यही सब जन गावै।
तातैं सब की शरण छोड़ गहो धर्म मुक्ति पद पावै ॥

(भूधर दास)

काल अगम्य विनाश रहित निर्भय अविकारी।
ऐसो जो चिद्रूप शुद्ध निर्मल गुणधारी ॥
जगजीवन को शरण तास बिन अपर जु नाही।
मोह करम कर सहित चित्त जिनको जग माही ॥

(नथमल)

३
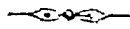
एकत्व भावना

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दहिसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलंभुंजदे एक्को॥

एकः करोति कर्म एकः हिण्डति च दीर्घसंसारे।
एकः जायते म्रियते च तस्य फलं भुङ्क्ते एकः॥

अर्थ—यह संसारी जीव अकेला ही कर्मों को बांधता है, अकेला ही दीर्घ ससार में परिभ्रमण करता है। अकेला ही यह जन्मता है, अकेला ही मरता है, अपने कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को॥

एकः करोति पापं विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन।
निरयतिर्यक्षु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः॥

अर्थ—यह जीव विषयों के निमित्त तीव्र लोभी होकर अकेला ही पाप करता है, वही जीव नरक तथा तिर्यंचगति में अकेला ही उस पापकर्म का फल भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥
एकः करोति पुण्यं धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन।
मानवदेवेषु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥

अर्थ—यह जीव अकेला ही धर्म के निमित्त पात्रों को दान देकर पुण्य बांधता है और उस पुण्य का फल अकेला ही मनुष्य तथा देव गति में भोगता है।

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ॥
उत्तमपात्रं भणितं सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः।
सम्यग्दृष्टिः श्रावको मध्यमपात्रम् हि विज्ञेयः ॥

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।
सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥
निर्दिष्टः जिनसमये अविरतसम्यक्त्वः जघन्यपात्रं इति।
सम्यक्त्वरत्नरहितः अपात्रमिति संपरीक्ष्यः ॥

अर्थ—सम्यक्त गुण सहित मुनि को उत्तम पात्र कहा गया है, और सम्यक दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र समझना चाहिये। जिनेन्द्र भगवान के मत में व्रत रहित सम्यक दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है और सम्यक्त्व रत्न रहित जीव को अपात्र माना है। इस प्रकार पात्र अपात्र की परीक्षा करनी चाहिये।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चरित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति ॥

अर्थ—जो सम्यक दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही यथार्थ में भ्रष्ट हैं। क्योंकि दर्शन भ्रष्ट जीव को निर्वाण नहीं होता। जो चारित्र भ्रष्ट हैं वे सीझ सकते हैं, दर्शन भ्रष्ट तो कभी सीझते ही नहीं हैं।

एकोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ॥

एकोहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शुद्धैकत्वमुपादेयं एवं चिन्तयेत् संयतः ॥

अर्थ—मै एक हू, मेरा कोई भी अन्य नहीं है, मैं शुद्ध हू, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हू तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हू—ऐसा सयमी को सदा चिन्तवन करना चाहिये।

अनादि काल से यह जीव संसार में अकेला ही भ्रमण करता चला आ रहा है। अपने शुभाशुभ कर्मों को यह आप अकेला ही भोगता है—अकेला ही यह जन्म लेता है अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों को बांधता है और फिर अकेला ही उनको भोगता है, अकेला ही यह जीव विषय भोगों के लिये तीव्र लोभ कषाय के वशीभूत हुवा हुवा, कुटुम्ब स्त्री पुत्रादिक के लिये उनके लौकिक सुख की नाना प्रकार की सामग्री जुटाने

के लिये, अपने शरीर के पालन पोषण के निमित्त, संसार में अथिर तथा झूठी वाह वाह के लिये वहु आरम्भ करता है, वहुपरिग्रह को संचय है, पंच पाप अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में प्रवृत्ति करता है, सप्त व्यसन का सेवन करता है। अविवेकी हुवा हुवा न्याय अन्याय को देखता नहीं, भक्ष्याभक्ष्य का विचार करता नहीं। इत्यादि पाप रूप कार्यों के फल रूप नरक तिर्यंच आदि अशुभ गतियों में घोर दुःखों को अकेला आप ही भोगता है, वहां कोई सगा-साथी, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र आदि इस का सहायक नहीं होता है। अशुभ फल भोगने में कौन किसका सहायक कभी हुवा करता है। समस्त विभूति जिसके उपार्जन करने में तथा रक्षण करने में इस जीव ने कितने ही पाप किये हैं, सव यहां ही पड़े रह जाते हैं, परलोक में इस जीव के साथ नहीं जाते। जिनके लिये तीव्र मोह के वशीभूत हो पाप किये वे सव कुटुम्वी जन, मित्रादिक यहां ही खड़े रह जाते हैं। जब प्राण परवेरू उड़ जाते हैं तो वे सब मृतक शरीर का अपने हाथों से दाह-कर्म कर आते हैं बस हमारा और उनका सम्बन्ध समाप्त। पाप कर्मोदय से नरक में जाता है तो ताड़न, मारण, छेद भेदन आदिक दुख तथा क्षेत्रजनित मानसिक तथा परस्परकृत घोर दुःखों को अकेला ही भोगता है। यदि तिर्यंचगति में जाता है पराधीन वंधना, वोझ भार लादना, गाली आदि कुवचनों का सुनना, नाना प्रकार का घात सहना, भूख प्यास की कड़ी वेदना को सहन करना, जाड़ा, गर्मी, वर्षा काल सम्बन्धी नाना प्रकार के त्रास को सहना, नासिका का छेदना, रस्से से बांधा जाना, गोली से मारा जाना इत्यादि अनेक प्रकार की वेदनायें तिर्यंचगति में मूक पशु अकेला ही सहन करता है, वहां कौन सगा-साथी साथ जाता है और रहता है।

पात्र दान आदिक शुभ क्रियाओं के फल रूप यह जीव मनुष्य गति

तथा स्वर्ग गति में जा जन्म लेता है, अकेला ही पुण्य कर्म को बांधता है और अकेला ही उस पुण्य के फल को भोगता है—जैसे पाप कर्म के फल भोगने में कोई इस जीव का सहायक नही होता, भागी नहीं बनता, ऐसे ही पुण्य कर्म का फल भोगते समय भी इस जीव के साथ दूसरा कोई भागी हो नहीं सकता। एक जीव अपने पुण्य को दूसरे को दे नहीं सकता, अकेला आप ही उसके फल को भोगता है। प्रत्येक जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के लिये आप ही अकेला जिम्मेवार है। मनुष्य गति में अनेक दुःख अकेला भोगता है गर्भ में बसने का दुःख, योनि सकट का दुःख, अनेक शारीरिक रोग और कष्ट, मानसिक चिन्तायें, दरिद्र का घोर दुःख, इष्ट-वियोग, अनिष्ट सयोग का दुख, यह सब दुख यह जीव आप अकेला ही भोगता प्रत्यक्ष दिखाई देता है, प्रत्येक मनुष्य इस सत्य का अनुभव अपने जीवन में आपही करता है, परन्तु अज्ञान, मिथ्यात्व तथा मोह का पर्दा कुछ ऐसा पड़ा हुआ है कि यथार्थ सत्य को भूल जाता है। स्वर्ग में असंख्यात काल तक महान सुख, देवांगनाओं का समागम, असंख्यात देवों का स्वामित्व, नाना प्रकार अनेक ऋद्धियो के सुख का यह जीव अकेला ही भोगता है। इस प्रकार यह जीव इस चतुर्गति रूप संसार में सुख दुःख को आप अकेला ही भोगता है।

प्रत्येक जीव अकेला है, निराला है, स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। जब जीव के पर के संयोग रहित्व एकत्व को विचार करते हैं तब तो यही झलकता है कि प्रत्येक जीव बिलकुल अकेला है, स्वभाव से एक जीव में न दूसरे जीव है, न कोई परमाणु या स्कंध है, न कोई कर्म है न कोई पुण्य है, न पाप है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न ससारिक सुख है न दुख है, न शुभ भाव है न अशुभ भाव है, न वह एकेन्द्रिय है, न दोइन्द्रिय है, न तेइन्द्रिय है, न चौइन्द्रिय है, न पंचेन्द्रिय है, न पशु है, न नारकी है, न देव है, न मानव है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक

है, न बालक है, न युवा है, न वृद्ध है, न ब्राह्मण है, न क्षत्री है, न वैश्य है, न शूद्र है, न म्लेच्छ है, न आर्य है, न लघु है, न दीर्घ है, न साधु है, न गृहस्थ है, न बंधा है, न खुला है। प्रत्येक जीव सब से निराला शुद्ध ज्ञाता दृष्टा वीतराग आनन्दमई है। सिद्ध परमात्मा के समान है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं। सब ही अपनी २ सत्ता भिन्न भिन्न रखते हुवे अपने अपने ज्ञानानन्द का भिन्न भिन्न अनुभव करते हैं, वे समान होने पर भी सत्ता से समान नहीं हैं। जीव का एकत्व उसका निज स्वभाव है। यह हमें निश्चय करना चाहिये, परमाणु मात्र भी कोई अन्य द्रव्य या अन्य कोई जीव या कोई अन्य औपाधिक भाव इस जीव का नहीं है। यह जीव रागादि भाव कर्म, ज्ञानावर्णादि द्रव्य कर्म तथा शरीरादि नो कर्म से भिन्न है, यह बिलकुल निराला स्वतन्त्र है।

(अशुद्ध अवस्था में भी हर एक को अकेले ही जगत में व्यवहार करना पड़ता है, प्रत्येक अपनी हानि व लाभ का स्वयं उत्तरदायित्व रखता है, प्रत्येक अपने सुख को व दुख को आप अकेले भोगता है, प्रत्येक अपनी उन्नति या अवनति आप करता है। "हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा" यह कहावत यथार्थ है। यह जीव व्यवहार में भी अकेला है, अशरण है, निश्चय से भी अकेला है तथा अशरण है।)

ऐसा जान कर एक ज्ञानी विचारता है, मैं निश्चय से एक अकेला हू, मेरा कोई भी अन्य नहीं है, मैं शुद्ध हू, ज्ञानदर्शन लक्षण वाला हू तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हू। मैं अकेला हू निश्चय से शुद्ध हू, अरूपी हू। न मैं देह हू, न मैं वचन हू, न मैं मन हू, न मैं मन वचन काय का कारण हू, न मैं इनका कर्ता हू, न कराने वाला हू, न करने वालों की अनुमोदना करने वाला हू, रागादि सर्व भाव मेरे नहीं

हैं, ये सर्व कर्म के सयोग से हुये हैं, ये सर्व शुभ से भिन्न हैं। यह आत्मा ही आप अपने को संसार में भ्रमण कराता है और आप ही अपने को निर्वाण में ले जाता है।

यह जीव अकेला ही स्वर्ग में जाकर देव होता है और स्त्री के मुख कमल में भ्रमरवत् आसक्त हो जाता है, अकेला ही नरक में जाकर वहां के घोर दुःखों को सहन करता है, अकेला ही कर्म बांधता है आप ही विवेकी होकर जब सर्व कर्मों के आवरण को दूर कर देता है, तब मोक्ष होकर ज्ञान राज्य को भोगता है।

ऐसा विचारते विचारते एक तत्वज्ञानी भावना करता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हू, मेरा चैतन्य स्वरूप आत्मा ही एक उत्कृष्ट तत्व है, वही एक परम पद है, वही एक परम ज्योति है, नित्य है, आनन्दमई पद को देने वाला है। जब वह भावना करते २ अपने आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परम पदार्थ शान्त स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जान कर आत्मा में स्थिर तिष्ठता है वही मोक्ष मार्ग में चलने वाला है, वही आनन्द रूपी अमृत को भोगता है, वही पूजनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर बन जाता है।

इस भावना के मानने वाला संसार और उसके विषय भोगों से विरक्त होता है, वह पुण्य और पाप दोनों को अपने लिये हेय समझता है, अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को ही अपना ध्येय मानता है—जब तक ध्येय की प्राप्ति नहीं हो पाती, वह पापाचरण को त्याग शुभाचरण को ही अपने लिये हितकारी समझता है, संसार में उसका ममत्व दिनोंदिन अधिक घटता चला जाता है। लौकिक लाभ हानि में वह हर्ष विषाद नहीं

करता—इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग में वह धैर्य रखता है, कभी विचलित नहीं होता उसका जीवन शान्तिमय और संतोषी होता है, वह अपने आत्म कल्याण के लिये सदैव तत्पर रहता है, संसार क्षेत्र में जो भी व्यवहार करता है न्याय तथा विवेक पूर्वक करता है, प्रसन्नचित्त रहता है, निर्भयता के साथ चलता है, जो भी आपत्तियां, कष्ट, संकट अशुभ कर्मोदय से आते हैं उनमें कायर हो भागता नहीं, समता भाव के साथ वीरों की तरह उनका डट कर मुकाबला करता है, उनको पराजित करने का भरसक प्रयत्न करता है, यदि वीर्यान्तराय कर्म के उदय से उनको जीतने में असमर्थ होता है तो उनको समता भाव के साथ सहन करता है और विचारता है कि मेरा आत्मा अजर है, अमर है, अविनाशी है यह आपत्तियां उसका क्या बिगाड़ सकती हैं, मुझ अकेले को ही यह सब कष्ट सहन करना है यदि ज्ञान भाव के साथ शान्ति पूर्वक इन को सहन करता हू तो अच्छा है कर्म की निर्जरा हो जावेगी, कर्म का जो ऋण देना है वह चूक जावेगा। स्वावलम्बन तथा स्वाधीनता का पाठ भी यह भावना पढ़ाती है। इस भावना के मानने से स्वजन में मोह नहीं बढता और अन्य परिजनों में द्वेष नहीं होने पाता, आर्त्त तथा रौद्र ध्यान छूट जाता है, भेद विज्ञान हो जाता है, निज आत्मा की शुद्धता का प्रयत्न बन आता है। ऐसे एकत्व भावना के स्वरूप तथा उसके फल को जानकर, भव्य जीवों को सदैव ही निज शुद्ध आत्मा के एकत्व रूप की भावना करनी चाहिये।

दोहा—एक जीव परजाय बहु, धारे स्वपर निदान।
परतज आपा जानके, करो भव्य कल्याण ॥
(जगचन्द्र)

छन्द—शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एकहि तेते।
सुत दारा होंय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥
(दौलत राम)

दोहा—आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहू इस जीव का, साथी सगा न कोय ॥

साथी सगा न कोइ मरण कर जब परभव में जावे।
मात पिता सुत दारा प्रिय जन कोई न साथी आवे ॥
पुण्य पाप या धर्म हि साथी तन धन यहीं रहावे।
सुख दुख सब ही इकला भुगते, इकला चहुगति धावे ॥
(भूधर दास)

॥ चौपाई ॥

जग में भ्रमत जीव यह एक। जन्म मरण दुख लहे अनेक ॥
सुत बांधव दारा परिवार। संगी एक नांहि निरधार ॥
कर्मन को करता तू सही। तिन को फल तू भोगे सही ॥
तन ममत्व तज शिव सुख हेत। जतन करत क्यो नांहि अचेत ॥
कर्म नो करम रहित अनूप। रूपातीत शुद्ध चिद्रूप ॥
ताही में थिरता कर अबै। और विभाव त्याग कर सबै ॥
(नथमल)

अन्यत्व भावना

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥

मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः ।
जीवस्य न सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते ॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि तथा अन्य बन्धुओ के समूह का जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है वे सब अपने २ कार्य वश वर्त्तते हैं, अर्थात् सब अपने स्वार्थ के सगे हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहगोहत्ति मण्णंतो ।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥
अन्यः अन्यं शोचति मदीयोस्ति मम नाथकः इति मन्यमानः ।
आत्मानं न हि शोचति संसारमहार्णवे बूडितम् ॥

अर्थ—संसारी जीव इस संसार रूप महासागर में डूबते हुवे अपनी आत्मा की तो शोच करता नहीं, अन्य अन्य जीवों की शोच करता है कि अमुक मेरा है, अमुक मेरा स्वामी है इत्यादि माना करता है।

अरणं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अरणत्तं॥
अन्यदिदं शरीरादिकं अपि यत् भवति बाह्यं द्रव्यम्।
ज्ञानं दर्शनमात्मा एवं चिन्तय अन्यत्वम्॥

अर्थ—यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है, क्योंकि यह एक बाह्य द्रव्य है—आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है—इस प्रकार अन्यत्व भावना चिन्तवन करनी चाहिये।

एकत्व भावना और अन्यत्व भावना संबंधित भावनायें हैं—एकत्व भावना प्रवृत्ति रूप है, अन्यत्व भावना निवृत्ति रूप है, अथवा एकत्व भावना कार्य रूप है और अन्यत्व भावना कारण रूप है। एकत्व भावना में आत्मा का अकेलापना चिन्तवन किया जाता है और अन्यत्व भावना में पर पदार्थों का भिन्नपना चिन्तवन किया जाता है। ये ही दोनों में अन्तर है। शरीर, कुटुम्बादि तथा अन्य पर चेतन अचेतन पदार्थों से अपने स्वरूप को सर्वथा भिन्न चिन्तवन करने का नाम अन्यत्व भावना है। इस संसार में माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री तथा अन्य सम्बन्धियों का इस जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे सब स्वार्थ के सगे हैं, जब तक उनको अपने विषय या लोभ अभिमानादि कषाय की पूर्ति होती दिखाई पड़ती है, उस समय तक सब अपना २ मेरा २ कहकर पुकारते हैं। जिस समय भी अपने स्वार्थ की पूर्ति की कोई आशा नहीं देखते दूर हो जाते हैं, चाहे कोई मरे या जीवे छोड़ कर भाग जाते हैं, बात तक नहीं पूछते, घृणा करने लगते हैं। किसका मित्र किसका शत्रु—यदि किसी समय में किसी का उपकार हो जाता है तो वह मित्र बन जाता है, यदि अनेक बार

उपकार कर देने के पश्चात् एक बार भी उसका काम किसी से नहीं निकलता, या किसी कारण वश वह उसके प्रयोजन के पूरा करने में असमर्थ रहता है तो वह ही क्षण भर में शत्रु हो जाता है—ऐसी ही संसार की रीति है, हम प्रति दिन अपनी आंखों के सामने ऐसी अनेक घटनायें देखते हैं। यह हमारा शरीर भी जिसका हम पालन पोषण करते हैं, जिसको हम इतने लाड़ लड़ाते हैं, जिसके निमित्त अन्याय करते हुवे, पाप रूप प्रवृत्ति करते हुवे भी हम जरा नहीं हिचकिचाते हमारा नहीं है—हमारी आत्मा इससे भिन्न है, यह जड़ है, आत्मा चेतन है। आयु कर्म का अन्त होते ही यह शरीर छूट जाता है। हमारे कुटुम्बी जन, सगे-स्नेही, मित्रगण जल्दी से जल्दी इस शरीर को दग्ध करके इसकी भस्मि बना देते हैं। जब यह शरीर ही जिसको यह जीव अज्ञान तथा मिथ्यात्व से मेरा २ कहता है अपना नहीं है तो स्त्री पुत्र, भाई बन्धु, कुटुम्ब कबीला, दासी दास चेतन पदार्थ, घर, मकान, महल, कोठी बंगले, मोटर, रुपया पैसा, धन्य धान्यादिक अचेतन पदार्थ हमारे कैसे हो सकते हैं? मोह के वशीभूत हुवा यह जीव इन परपदार्थों से ममत्व करता है, उनकी शोच करता है कि हाय पुत्र बीमार है क्या करूं? स्त्री मरने को हो रही है क्या करूं? लक्ष्मी नाश को प्राप्त हो गई है कहां जाऊं? इस प्रकार पर पदार्थों के संयोग वियोग से दुःखी हुवा आर्त ध्यान में डूबा रहता है, रुद्र ध्यान में फंसा रहता है, अपने हिताहित का विचार कभी भी एक क्षण मात्र के लिये भी नहीं करता। पर पदार्थों को अपना मानना ही भूल है, उनसे ममत्व करना संसार भ्रमण का मुख्य कारण है—जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुवे मालूम पड़ते हैं, परन्तु शरीर से वस्त्र जुदा जुदा हैं, उसी प्रकार आत्मा और शरीर मिले हुवे मालूम पड़ते हैं, परन्तु जुदा जुदा हैं। शरीर की रक्तता से, जीर्णता से और विनाश से आत्मा

की रक्तता, जीर्णता और विनाश नहीं होता। जब इस आत्मा की एकता इस शरीर के साथ ही नहीं है तो फिर पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ कैसे हो सकती है। शरीर बाह्य द्रव्य है आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है। इस प्रकार एक ज्ञानी जीव विचार करता है कोई भी मेरी आत्मा के बाहर के पदार्थ मेरे नही हैं, न मैं उनका कदापि हो सकता हू। पर पदार्थों के ममत्व ने ही तो मुझे इस अथाह संसार रूपी समुद्र में डुबो रखा है, ये मुझ से अन्य हैं, मैं इनका रूप हू—मैं अजर, अमर, अविनाशी निर्मल स्वभावी हू, अन्य रागादि भाव सब मेरे से बाहर, हैं, क्षणिक हैं। मेरी आत्मा रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द रहित है, सूक्ष्म चेतना गुण का धारी है, न इसमें वर्ण है, न शरीर है, न कोई सहनन है, न सस्थान है। न इस आत्मा के राग है, न द्वेप है, न मोह है, न इसके द्रव्य कर्म है, न नो कर्म है, न वर्ग है, न वर्गणायें हैं, न कोई स्पर्द्धक हैं, न रागादि अध्यवसाय है और न अनुभाग स्थान है, न कोई योग स्थान है, न कोई बन्ध स्थान है, न कोई मार्गणा स्थान है, न स्थिति बंध के स्थान है, न संक्लेश स्थान है, न विशुद्धि स्थान है, न संयम लब्धि स्थान है, इस शुद्धात्मा के न जीव समास है और न गुण स्थान है। शुद्ध निश्चय नय से इस आत्मा में कर्म जनित सब ही भाव नहीं है—केवल शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय सिद्ध भगवान के समान निरंजन निर्विकार है।

इस प्रकार ससार के समस्त पदार्थों के स्वभाव को समझ कर एक ज्ञानी और विवेकी भव्य जीव भावना करता है कि सर्व भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म रहित व ज्ञान दर्शन गुणों से विभूषित आत्मा को छोड़ कर न मैं किसी का हू न कोई पर भाव मेरा है, शुद्ध चैतन्य के सिवाय न तो मैं कुछ हू और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है, इस लिये शुद्ध चैतन्य रूप को छोड़ कर अन्य की चिन्ता करना वृथा है। ऐसा अनुभव

करके अपने स्वरूप की ही निरन्तर भावना करनी चाहिये, क्योंकि इसी भावना के बल से परम अतिन्द्रिय सुख का लाभ होता है।

[एकत्व और अन्यत्व इन दोनों भावनाओं का तात्पर्य तो एक ही है, दोनों में विधि तथा निषेध रूप ही भेद है। यह दोनो भावनाये मिथ्यात्व और मोह को दूर करने वाली हैं, वस्तु का यथार्थ ज्ञान कराने वाली हैं। सर्व वस्तुओं पर समभाव रखना, सर्व प्राणियों पर समभाव रखना और आत्मोन्नति के परम उद्देश्य की पूर्ति में तत्पर रहना ही इन भावनाओं का अभिप्राय है।]

[यहां पर शंका हो सकती है कि यह भावनायें संसार में रहते हुवे मनुष्यों को स्वार्थी बनाने में तथा दूसरो से प्रेम पूर्वक व्यवहार करने में तथा दूसरों का उपकार करने में, अपने शरीर की रक्षा करने में या अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करने में बाधक होंगी, मनुष्य गृहस्थ में रहते हुए अपने कर्तव्य का यथार्थ पालन नहीं कर सकेगा, ऐसा नही है।]

गृहस्थों को अपने माता, पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी जनों की सेवा सुश्रूषा अवश्य अपने पदानुसार करनी चाहिये, यह उसका धर्म है, परोपकार के कार्य भी बराबर करते रहना चाहिये। प्रत्येक प्राणी को पुत्र धर्म, पति धर्म, मातृ धर्म तथा मित्र धर्म का बराबर पालन करना चाहिये। इस कर्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिये। परन्तु जहां वह गृहस्थ धर्म को पालन कर रहा है वहां उस वस्तु स्थिति को भी नहीं भुलाना चाहिये। संसार में लिप्त नहीं होना चाहिये, मोह में अन्धा नहीं हो जाना चाहिये, विषय वासनाओं का दास नहीं होना चाहिये—जिस दृष्टिकोण से उसे संसार में व्यवहार करना है उसे नहीं भुला देना चाहिये, ध्येय को नहीं छोड़ देना

चाहिये—आत्म कल्याण ही मुख्य ध्येय है, ध्येय से गिर जाने पर जीवन का रंग ढंग बदल जाता है, मोह के फंदे में जीव फंस जाता है, संसार रूपी महा अटवी मै भ्रमण करता फिरता है। इन भावनाओं का उद्देश्य है कि अपने आपे को जानो, संसार की स्थिति को समझो, संसार से और इसके पदार्थों से तुम्हारा क्या और कैसा सम्बन्ध है, तुम्हारा हित काहे में है और तुम उसका साधन कैसे कर सकते हो। समता भाव को जागृत करना वस्तु के स्वरूप को पहचानना, मोह के प्रतिबन्धनों में पड़ कर अपने ध्येय से च्युत होने से बचाना, ममत्व भाव को मिटाना, मिथ्यात्व अन्धकार को दूर कर सम्यक् दर्शन को विकसित करना, विषय वासनाओं को हटा कर विशुद्ध वृत्ति को हृदय में जागृत करना इन भावनाओं का ध्येय है। सब वस्तुओं पर सम भाव रखना, कषायों का त्याग करना, विषयों से दूर रहना, आत्म परिणति जागृत करना, अपने निज शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा की प्राप्ति करना ही इनका उद्देश्य है। शरीर को पर चिन्तवन करने का भी यही अभिप्राय है कि शरीर के दास न बनो, बल्कि उसकी सहायता से आत्म हित करने का लक्ष्य रखो, शरीर पर मोह कम करो, इसी शरीर से मोक्ष पद की प्राप्ति हो सकती है, शरीर को प्रमादी न होने दो, शरीर को आवश्यकतानुसार उचित सात्विक भोजन देकर उससे पूरा २ काम लो, यथा शक्ति तप, दान, दया, क्षमा और परोपकार आदि करके शरीर प्राप्ति को सफल बनाना यही ध्येय है।

दोहा—निज आतम ते भिन्न पर, जानै जे नर दक्ष।
निज में रमै बमैं अपर, ते शिव लहैं प्रत्यक्ष॥

(जयचन्द्र)

छन्द—जल पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहीं मेला।
तौ प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वैं इक मिल सुतरामा॥
(दौलत राम)

दोहा—जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय।
घर संपति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय॥

पर हैं परिजन लोय होय नहिं वस्तु जाति कुल थारा।
मोह कर्म वश पर को अपने समझे सोई गंवारा॥
तू है दर्शन ज्ञान मई चैतन्य आत्मा न्यारा।
तातैं पर जड़ त्याग आप गहि जो होवे निस्तारा॥
(भूधर दास)

अडिल्ल—कर्म भिन्न अरु क्रिया भिन्न पर मानिये।
भिन्न आप तैं देह सदा पुनि जानिये॥
विषय इन्द्रियादिक ये भी हैं पर सदा।
दारा सुत आदिक अपने नाहीं कदा॥

॥ चौपाई ॥

देह मई मैं हू सर्वथा। ऐसी मति धारो मत वृथा॥
वसन समान देह में जीव। तिष्टत है दुख सहत अतीव॥
तू सब सेती भिन्न प्रधान। दर्शन ज्ञान चरित मय जान॥
कर्म रहित पुनि शिव आकार। निराकार गुण गण आकार॥
(नथमल)

संसार भावना

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥
पंचविधे संसारे जातिजरामरणरोगभयप्रचुरे।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरकालम् ॥

अर्थ—जिन मार्ग को न देख (श्रद्धान) कर, जीव जन्म, जरा, मरण, रोग तथा भय से भरपूर पच परिवर्तन रुप संसार में दीर्घ काल तक भ्रमण किया करता है।

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥
सर्वेपि पुद्गलाः खलु एकेन भुक्तोज्झिताः हि जीवेन।
अस कृदनंत कृत्वः पुद्गल परिवर्त संसारे ॥

अर्थ—पुद्गल परावर्तन रूप संसार में इस एक जीव ने सपूर्ण पुद्गल वर्गणाओं को निश्चय मे वार वार (अनत वार) ग्रहण करके और भोग करके छोड़ा है।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तरणत्थि जरण उप्पराणं ।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमशः तन्नास्ति यत्र न उत्पन्नः ।
अवगाहनेन बहुशः परिभ्रान्तः क्षेत्रसंसारे ॥

अर्थ—संपूर्ण लोकाकाश मे कोई एक भी स्थान ऐसा नहीं है जहां जीव ने क्रमशः नाना प्रकार के छोटे बड़े शरीर को धारण करके जन्म नहीं लिया है—इस प्रकार इस जीव ने क्षेत्र परावर्तन रूप संसार में भ्रमण किया है ।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभिमनो कालसँसारे ॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जातः मृतः च बहुशः परिभ्रान्तः कालसँसारे ॥

अर्थ—इस संसारी जीव ने अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी काल के सम्पूर्ण समयों में अनेक बार जन्म और मरण किये हैं, कोई समय बचा नहीं जिसमें यह अनन्त बार जन्मा और मरा न हो । इस प्रकार इसने काल परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण किया है ।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उपरिल्लवा दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥

निरयायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितनाः तु ग्रैवेयिकाः ।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशः अपि भवस्थितौ भ्रान्तः ॥

अर्थ—छोटे से छोटी आयु वाली नर्क पर्याय में जन्म होने से लेकर ऊर्द्ध लोक की ग्रैवेयिक की उत्कृष्ट आयु तक मिथ्यात्व के वशीभूत होकर इस संसारी जीव ने निश्चय से अनेक वार नर्क, तिर्यंच मनुष्य, देव गतियों में भिन्न २ आयु वाले अनेक शरीरो में जन्म धारण करके भ्रमण किया है—यह भव परावर्तन है ।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥
सर्वाः प्रकृतिस्थितयोऽनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीवः मिथ्यात्ववशात् भ्रान्तः पुनः भावसंसारे ॥

अर्थ—भाव परावर्तन रूप संसार में इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत होकर आठो कर्मों के प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध तथा प्रदेश बंध के सब ही स्थानों में वार वार परिभ्रमण किया है ।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥
पुत्रकलत्रनिमित्तं अर्थं अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दयादानं सः जीवः भ्रमति संसारे ॥

अर्थ—यह संसारी जीव पुत्र, स्त्री के निमित्त, पाप बुद्धि से धन कमाता है, दान तथा दया को छोड़ता है और इस लिये संसार में परिभ्रमण करता है ।

मम पुत्तं मम भाज्जा मम धणधरणोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीह संसारे ॥
मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकांक्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे ॥

अर्थ—"यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धन धान्य है", इस प्रकार की तीव्र कांक्षा के कारण यह संसारी जीव धर्म बुद्धि को छोड़ देता है और फिर पीछे दीर्घ संसार में पड़ता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेणभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥
मिथ्यात्वोदयेन जीवः निंदन् जैनभाषितं धर्मम् ।
कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थं मन्यमानः भ्रमति संसारे ॥

अर्थ—यह संसारी जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिन भगवान कथित धर्म की निन्दा करता है तथा कुधर्म, कुगुरु और कुतीर्थ को पूजता है इसलिये संसार में भटकता फिरता है।

हंतूण जीवरासिं मधुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥
हत्वा जीवरासिं मधुमासं सेवित्वा सुरापानम् ।
परद्रव्यपरकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे ॥

अर्थ—यह संसारी प्राणी, जीव राशि को मारता है मधु मांस का सेवन करता है, मदिरा पान करता है, पर धन तथा पर स्त्री को हरण कर लेता है, इस लिये संसार में परिभ्रमण करता है।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडति संसारे॥

यत्नेन करोति पापं विषयनिमित्तं च अहर्निशं जीवः।
मोहान्धकार सहितः तेन तु परिपतति सँसारे॥

अर्थ—संसारी जीव मोहान्धकार से अन्धा हुवा हुवा, रात दिन विषयों के निमित्त, यत्नपूर्वक पाप कर्म करता है और इसी लिये संसार में भटकता है।

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुवे सदसहस्सा॥

नित्येतरधातुषु सप्त च तरौ दश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयतिर्यक्षु चतस्रः चतुर्दश मनुजे शतसहस्राः॥

अर्थ—नित्य निगोद, इतर निगोद, धातु (पृथ्वी काय, जल काय, अग्नि काय और वायु काय) प्रत्येक सात लाख (कुल ४२ लाख), वनस्पति काय दस लाख, विकलेन्द्रिय की (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय प्रत्येक दो दो लाख), छह लाख, देव, नारकी और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख। इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनियां हैं।

सँजोगविप्पजोगँ लाहालाहँ सुहँ च दुक्खँ च।
सँसारे भूदाणँ होदि हु माणँ तहावमाणँ च॥

संयोगविप्रयोगौ लाभालाभौ सुखं च दुःखं च ।
संसारे भूतानां भवति हि मानं तथापमानं च ॥

अर्थ—संसार में सब ही जीवों के संयोग वियोग, लाभ अलाभ, सुख दुख तथा मान अपमान हुवा ही करते हैं।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे ।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणय कम्मणिम्मुक्को ॥

कर्मनिमित्तं जीवः हिंडति संसारघोरकांतारे ।
जीवस्य न संसारः निश्चयनयेन कर्मनिर्मुक्तः ॥

अर्थ—यद्यपि यह जीव कर्म के निमित्त से संसार रूप भयानक बन में भ्रमण करता है, परन्तु निश्चय से आत्मा के संसार नहीं है, यह तो कर्मों से रहित है।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥

संसारमतिक्रान्तः जीवः उपादेय इति विचिन्तनीयम् ।
संसारदुःखाक्रान्तः जीवः स हेय इति विचिन्तनीयम् ॥

अर्थ—इस लिये चिन्तवन करना चाहिये कि जो जीव ससार से पार होगया है उस की-सी अवस्था ग्रहण करने योग्य है। और जो जीव संसार के दुःखो में फंसा हुवा है वह संसार दशा त्यागने योग्य है, ऐसा मनन करना चाहिये।

"संसरणं संसारः परिवर्तनम्"—संसार उसको कहते हैं जहां जीव संसरण या भ्रमण करता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारण करता है उसको छोड़ कर फिर और अवस्था को धारण करता है। इस संसार में एक अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव अनादि काल से चले आये मिथ्यात्व के उदय से अचेत हुवा हुवा, जिनेन्द्र भगवान के उपदेशे हुवे यथार्थ धर्म को ग्रहण न करने के कारण दुःखमय चतुर्गतियों में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। संसार अवस्था में कर्म रूप दृढ़ बन्धनों से जकड़ा हुवा, त्रसस्थावर पर्यायों में, पराधीन हुवा २ निरन्तर घोर दुःखों को भोगता हुवा वारंवार जन्म मरण करता है। जैसे २ कर्म उदय में आकर फल देते हैं उनके उदय में अपना आपा मान, यह अज्ञानी जीव अपने शुद्ध चिदानन्द स्वभाव से अनभिज्ञ रह, नये नये कर्मों का बंध करता है। कर्म बंध के आधीन हुवे प्राणियों के लिये कोई ऐसा दुख बाकी नहीं रहा जो इसने न भोगा हो। समस्त दुःखों को भोगते २ अनंतानंत बार अनंत काल व्यतीत हो गया। इस प्रकार अनंत परिवर्तन संसार में एक संसारी जीव के व्यतीत हो गये हैं। ये परिवर्तन पांच प्रकार के होते हैं:—

(१) द्रव्यपरिवर्तन—ऐसा कोई पुद्गल संसार में नहीं रहा जिसको इस ससारी जीव ने ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म रूप से, तथा शरीर के निर्माण और पालन पोषण के लिये, भोजन पान आदि पांचो इन्द्रियों के विषय रूप से, अनत बार क्रम क्रम से, ग्रहण करके और भोग करके न छोडा हो।

(२) क्षेत्र परिवर्तन—तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण इस लोकाकाश में किसी भी क्षेत्र का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं रहा, जहां जहां इस संसारी जीव ने, एक एक प्रदेश को व्याप्त करके अनंतानंत बार जन्म मरण न किये हों। ऐसे एक क्षेत्र परिवर्तन में द्रव्य परिवर्तन मे भी

अधिक अनन्त काल बीता है।

(३) काल परिवर्तन—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इन दोनो युगों के सूक्ष्म समयों में कोई ऐसा समय शेष नहीं रहा जिसमें इस जीव ने अनंत बार क्रम क्रम से जन्म मरण न किया हो। इस एक काल परिवर्तन में क्षेत्र परिवर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

(४) भव परिवर्तन—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में इस जीव ने जघन्य से जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु पर्यन्त समस्त आयु का प्रमाण धारण कर नौ ग्रैवेयिक पर्यन्त अनन्त बार जन्म मरण किया है। कोई भव नौ ग्रैवेयिक तक ऐसा नहीं रहा जो इस जीव ने धारण न किया हो। इस एक भव परिवर्तन में काल परिवर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

(५) भाव परिवर्तन—कर्म की स्थिति बंध के स्थान तथा स्थिति बंध के कारण असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग बंधा ध्यवसाय स्थान तथा जगत श्रेणी के संख्यातवें भाग योग स्थान, ऐसा कोई भी भाव बाकी नही रहा जो संसारी जीव के न हुवा हो। एक सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र के योग्य भाव तो हुवे नहीं बाकी सब ही भाव संसार में जीव के अनन्त बार हुवे हैं। इस एक भाव परिवर्तन में भव परिवर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

इस प्रकार ये पंच परिवर्तन इस ससारी जीव ने अनन्त बार किये हैं, इस संसार भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के साथ अविरति प्रमाद, कषाय और योग भी हैं। मिथ्यादृष्टि संसार के भोगों की तृष्णा से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह के अतिचार रूपी पांच अवि-

गति भावों में फंसा रहता है, वही मिथ्यादृष्टि आत्म हित में प्रमादी रहता है, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय करता है तथा मन, वचन, काय को अति चोभित रखता है। इन्हीं के कारण मिथ्यादृष्टि अनेक कष्ट पाता है और संसार में परिभ्रमण करता है। संसार में थिरता कहीं नहीं है, निराकुलता नहीं, संसार दुखों का समुद्र है। अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुख यह जीव इस संसार में भोगता है। यह संसार चतुर्गति रूप है। नरक गति, तिर्यंच गति, देवगति और मनुष्य गति इन चारों गतियों में ही भ्रमण करता हुवा यह जीव अनेक दुःखों को भोगता है। इन चारो गतियों में से तिर्यंच गति और मनुष्य गति के दुख तो प्रत्यक्ष ही हम सब को दिखाई ही देते हैं, नरक गति और तिर्यंच गति के दुख यद्यपि प्रगट नहीं हैं तथापि आगम के द्वारा श्रीगुरु वचन प्रतीति से जानने योग्य हैं। देवगति

नरक गति में नारकी जीव दीर्घ काल तक वास करते हुवे कभी भी सुख शांति पाते नहीं, निरन्तर परस्पर एक दूसरे से क्रोध करते हुवे वचन प्रहार, शस्त्र प्रहार, काय प्रहार आदि से कष्ट देते रहते हैं और सहते रहते हैं। भूख प्यास की बाधा नहीं मिटती शरीर वैक्रियक होता है जो छिदने भिदने पर भी पारे के समान मिल जाता है। दुःखों के कारण अपना मरण चाहते हैं, परन्तु आयु पूर्ण हुवे बिना उस पर्याय को छोड़ नहीं सकते। नारकी पंचेन्द्रिय सैनी नपुंसक होते हैं, पांचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा रखते हैं, परन्तु उन भोगों की तृप्ति का कोई साधन न पाकर निरंतर चोभित व संतापित रहते हैं, नारकियों के परिणाम बहुत दुष्ट होते हैं, उनके अशुभतर कृष्ण नील तथा कापोत लेश्यायें होती हैं। नारकियों में पुद्गलों का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, सर्व बहुत अशुभ वेदनाकारी रहता है। नरक की भूमि कर्कश दुर्गंधमई होती है, वायु छेदक व

असह्य चलती है। शरीर उनका बड़ा बिडरूप और डरावना होता है, उसके देखने मात्र से ग्लानि उपजती है। नारकीयों को अत्यन्त शीत तथा अत्यन्त उष्णता की घोर वेदना सहन करनी पड़ती है। इस प्रकार नरक गति में प्राणी बहुत काल तक तीव्र पाप के फल से घोर वेदना पाया करते हैं। बहुत आरम्भ परिग्रह रखने वाले, घोर हिंसक परिणामी, विश्वासघाती, धर्म द्रोही, गुरु द्रोही, स्वामी द्रोही, कृतघ्नी, परधन परस्त्री के लंपटी, अन्याय मार्गी, धर्मात्माओं तथा त्यागियों के कलङ्क लगाने वाले, यतीश्वरों का घात करने वाले, ग्रामों और वनों में अग्नि लगाने वाले, देवद्रव्य को चुराने वाले, तीव्र कषायी अनंतानु बंधी कषाय के धारक, कृष्ण लेश्या के धारक, मांस मदिरा के लोलुपी, वेश्यानुरागी, पर विघ्न संतोषी दुराचार के धारक, मिथ्यात्व अन्याय और अभक्ष्य की प्रशंसा करने वाले, इत्यादि हिंसा के तीव्र कार्य की परिपाटी चलाने वालों का नर्क में गमन होता है। रौद्र ध्यान नरक गति का मुख्य कारण है।

तिर्यंच गति के दुःख हम रोज अपनी आंखों से देखते ही हैं, पशु पक्षियों को भूख प्यास की वेदना सताती है, पेट भर चारा खाने को नहीं मिलता। भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, वर्षा की बाधा को दीन हीन मूक पशु तडप २ कर सहन करते हैं, शिकारी लोग निर्दयता पूर्वक गोली चला उनके प्राणों का अन्त कर देते हैं। कमजोर होते हुवे भी अधिक बोझा लाद दिया जाता है, चलने योग्य न होने पर भी मार मार कोड़ों के उन को चलाया जाता है, नाक छेद दिये जाते हैं, पूछ काट दी जाती है, घायल और जखमी होते हुवे भी उनको गाड़ी आदि में जोत दिया जाता है, इत्यादि अनेक कष्ट तिर्यंच गति में जीवों को भोगने पड़ते हैं, जलचर, थलचर, नभचर जीवों को तथा एकेन्द्रिय जीवों को जो अनेक दुःख सहन करने पड़ते हैं, उनका कहां तक वर्णन करें हम अपनी आंखो से देखते ही हैं—

अन्याय से, दूसरो का धन हरने से, छल कपट करने से, अभक्ष्य भक्षण करने से, रात्रि भोजन से, निर्माल्य द्रव्य हडप करने से, अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करने से, अति मायाचार करने से इस जीव को तिर्यंच गति में जाकर वहां के दारुण दुःखों को भोगना पडता है।

देव गति में यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीं होते, परन्तु मानसिक कष्ट बहुत होते हैं, देवाङ्गना के वियोग के समय देव को बड़ा खेद होता है अन्य देवों को मरते देख अपने मरण का भय सताता है, अपने मरण से पहले माला मुरझाई देख महा व्याकुलता को प्राप्त होता है। अन्य देवों की अधिक सम्पत्ति देख कर ईर्षा पैदा होती है, इत्यादि अनेक कष्टों का अनुभव करना पड़ता है।

मनुष्य गति में इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग द्वारा अनेक दुख भोगने पडते हैं। मनुष्य पर्याय में निर्धनता, सप्त धातुमय मलीन रोगों का भरा देह का धारण करना, कुदेश में बसना, स्वचक्र परचक्र का दुख सहना, वैरी समान बंधुओं मे रहना, कुपुत्र का संयोग होना, दुष्ट स्त्री की संगति होना, नीरस आहार मिलना, अपमान सहना, चोर, दुष्ट, राजा, मंत्री तथा अन्य राज्य कर्मचारियों द्वारा घोर त्रास सहना, दुष्काल में कुटुम्ब का वियोग होना, पराधीन रहना, दुर्वचन सहना, भूख प्यास आदि सहना इत्यादि दुःखों का भरा मनुष्य जीवन है।

यह जीव पुत्र व स्त्री के लिये पाप बुद्धि से धन कमाता है, न्याय, दया, धर्म तथा दान को छोड देता है। मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन, मेरा धान्य इत्यादि तीव्र तृष्णा के वशीभूत धर्म बुद्धि को छोड़ देता है। मिथ्या दर्शन के कारण यह जीव श्री जिनेन्द्र कथित धर्म की निन्दा करता है। कुधर्म, कुगुरु और कुतीर्थ का उपासक बन उनकी पूजा, सेवा सुश्रुषा

किया करता है, यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व भाव से अनेक जीवों की घोर हिंसा करता, मदिरा पान करता, मांस मदिरा का सेवन करता है, अभक्ष्य का भक्षण करता है, परधन हरण तथा परस्त्री के ग्रहण करने में जरा भी संकोच नहीं करता, मोहान्धकार से अन्धा हुवा रात दिन उद्योग करके विषय भोगों की पूर्ति के लिये नाना प्रकार के पाप किया करता है, इत्यादि कारणों से यह जीव दीर्घ संसार की चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। जैसे नृत्य के अखाड़े में नृत्यकार अनेक भेषों को धारण करता है और छोड़ता है वैसे ही यह संसारी जीव इस चतुर्गति रूप संसार में सदा भिन्न भिन्न रूपों को अर्थात् शरीरों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। कर्मोदयानुसार इस संसारी जीव के संयोग वियोग, हानि लाभ, सुख दुख तथा मान अपमान हुवा ही करते हैं। इस संसार रूपी घटी यन्त्र में इतनी विपत्तियां हैं कि जब एक दूर हो जाती है तब अनेक अन्य आपदायें सामने आकर खडी हो जाती हैं।

इस संसार भ्रमण का मूल कारण मिथ्यादर्शन है, मिथ्यादर्शन के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग भी हैं। विषय भोगों में फंस कर यह जीव पंच पाप रूप प्रवृत्ति करता है, प्रमादी रहता है, कषाय करता है, अपने परिणामों को संक्लेशित करता है, कर्म बंध करता है और ससार में परिभ्रमण करता है। कहा है—

विना कषायान्न भवीति राशि
र्भवेद्भवे देव च तेषु सत्सु।
मूलं हि संसार तरोः कषायास्त-
त्तान् विहायैव सुखी भवात्मन्!॥

"विना कषाय के संसार की अनेकों व्याधियां नहीं हो सकती हैं और कषायों के होने पर पीडायें अवश्यमेव होती है, संसार वृक्ष का मूल

ही कषाय है, इस लिये हे चेतन ! इनका परित्याग कर सुखी हो। जहां कषाय है वहां संसार है, कषाय का अभाव हो जावे तो संसार रूप वृक्ष ही उत्पन्न न हो।

इस असार संसार में अज्ञानी मिथ्या दृष्टि ही कष्ट पाता है, उसी के संसार भ्रमण होता है, जो आत्मज्ञानी सम्यक् दृष्टि होता है वह संसार से उदास व वैराग्य वान हो जाता है—संसार और संसार के पदार्थों से उस का ममत्व हट जाता है वह खूब अच्छी तरह समझ लेता है कि इस जीव को संसार अटवी में भ्रमण कराने वाला यह मोह ही है। इस भावना के भाने से यह जीव स्ववस्तु को पहचानने लगता है, परवस्तु क्या है यह उसे ज्ञान हो जाता है। संसारिक सर्व वस्तुओं और संबंधियों के वास्तविक स्वरूप को जान कर वह निश्चय करता है कि वे हमारे नहीं हैं, हम उन के नहीं हैं, हमारा उनका संबन्ध आकस्मिक है। संसार भावना का विचार करने से भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है, वास्तविक साध्य अर्थात् ध्येय का पता चलता है। इस भावना भाने से मुमुक्षु को जीव का स्वरुप, सगे सबन्धयों का स्वरूप, प्रिय पदार्थों का स्वरूप तथा अन्य परिग्रह का स्वरूप और उन सबके साथ जीव का संबन्ध आदि समझ में आजाता है। जिस को भेद विज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उस को एक महान तत्व की प्राप्ति हो जाती है उस का व्यवहार उत्तम श्रेणी का हो जाता है, व्यर्थ ससारिक कार्यों में नहीं फसता है, यदि फंसता है तो उन में आसक्त नहीं होता है, निरतर उनसे छुटकारा पाने की ही अभिलाषा रखता है। ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेने के पश्चात् कैसे ही सयोग के निमित्त से उस व्यहार में रहना पड़े फिर भी उस के अन्तः करण में मिथ्या व्यवहार में आसक्ति नहीं होती है, ममत्व नहीं होता है, एकाग्रता नहीं होती है वह सर्व कार्यों को ऊपर ऊपर से करता है, परन्तु किसी भी कार्य को अपना समझ कर नहीं करता है। जिस प्रकार एक जेल में रहने वाला कैदी उस

में से छूटने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार वह संसार रूपी जेल से छुट-कारा पाकर आत्मिक भूमि में प्रवास करने की अभिलाषा रखता है और जब तक वह भूमि प्राप्त न हो तब तक अविश्रान्त रूप से पुरुषार्थ किया करता है।)

आत्मज्ञानी सम्यक्‌दृष्टि आत्मीक सच्चे सुख को पहचान लेता है, वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी बन जाता है, वह शीघ्र ही कर्म बंधनों से छूट जाता है। यदि कर्मों के उदय से कुछ काल के लिये किसी गति में रहना भी पड़ता है तो वह संसार में लिप्त न होने के कारण संसार में प्राप्त शारीरिक मानसिक कष्टों को कर्मोदय विचार कर समता भाव से भोग लेता है। वह विचारता है कि कर्मों के वशीभूत होकर यह जीव इस भयानक संसार वन में भ्रमण करता है, निश्चय नय से इस जीव के संसार नहीं यह तो कर्मों से सर्वथा भिन्न ही है। सम्यक् दृष्टि ज्ञानी न तो रागादि कर्मों का कर्ता है न उनका भोक्ता है, वह मात्र उनके स्वभाव को जानता ही है। वह कर्ता भोक्ता अपने स्वभाव रूप शुद्ध भावों का ही है, परभाव तो कर्मजन्य है, उनका कर्ता भोक्ता नहीं होता है। कर्ता भोक्ता पना न करता हुवा, केवल मात्र जानता हुवा ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव में निश्चल रहता हुवा अपने को पर से मुक्त रूप ही अनुभव करता है।

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव पंच परिवर्तन रूप संसार से रहित, टंकोत्कीर्ण ज्ञातद्रष्टामई एक स्वभाव रूप, निर्मल, अविनाशी शुद्धात्मा ही उपादेय है तथा आराधने योग्य है और जो जीव आत्मा पुद्‌गल कर्म की उदय जनित अवस्थाओं में तिष्ठता है तथा संसार के दुःखों में फंसा हुवा है वह हेय है, त्यागने योग्य है। अर्थात् शुद्धात्मा ही उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है, मनन करने योग्य है और कर्मों के बंध के साथ एकता को प्राप्त हुवा अशुद्धात्मा हेय

अर्थात् त्यागने योग्य है। ऐसे जो जैसे परमात्मा को भावता है, वैसे ही परमात्मा को प्राप्त हो संसार से विलक्षण जो मोक्ष है उसमें अनंत काल तक निवास करता है।

दोहा—पंच परावर्त्तनमयी, दुःख रूप संसार।
मिथ्या कर्म उदय यहै, भरमै जीव अपार॥

(जयचन्द्र)

छन्द—चहुगति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, या में सुख नाहिं लगारा॥

(दौलत राम)

दोहा—दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान।
कहू न सुख संसार में, सब जग देखो छान॥

सब जग देखा छान, सबहि प्राणी अति दुःख जु पावै।
कर्म वली नट चारों गति में, बहु विधि नाच नचावै॥
गद बिन तन पावै तो धन नहिं, धन पा तुरत नसावै।
तातै भव तन भोग-राग तज शिव मग लहि शिव जावै॥

(भूधर दास)

दोहा—भ्रमत चतुर्गति में सदा, यह संसारी जीव।
सुख पायो नाही कभी, फंदे पड़ो सदीव॥
सर्व जघन्य शरीर रख, क्रम क्रम मूरत द्रव्य।
अपना कर पूरण कियो, द्रव्य परावर्त लब्ध॥
लोक मध्य मे उपज के, लोकाकाश प्रमाण।
निज शरीर अपनाइयो, क्षेत्र परावर्त जान॥

उत्सर्पिणि अवसर्पिणि, जन्म काल में लेय ।
समयाधिक अपनाय कर, कल्पकाल इमि देय ॥

सर्व जघन्य स्थिति धर, समयाधिक से जान ।
चारों गति की पर अपर, ग्रैवेयक लो मान ॥

स्थिति योग कषाय के, गुणित असंख्याते जान ।
थान तिन्हें अपनाय कर, पूरे किये सुजान ॥

द्रव्य चेत्र अरु काल भव, भाव कर्म के थान ।
तिन की गणना ना करो, भाषैं वेद पुराण ॥

काल अनंता यों बिता, दुख में जग का जीव ।
पार कठिनता से लहे, जग दुख पूर्ण अतीव ॥

(नथमल)

लोक भावना

जीवादिपयत्थाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्डभेएण ॥

जीवादि पदार्थानाम् समवायः स निरुच्यते लोकः ।
त्रिविधः भवेत् लोकः अधोमध्यमोर्ध्वभेदेन ॥

अर्थ—जीवादि छह द्रव्यों के समुदाय को ही लोक कहते हैं, इस लोक के तीन भाग हैं, अधो लोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक ।

णिरया हवंति हेट्ठामज्झे दीवंबुरासयोसंखा ।
सग्गो तिसट्ठि भेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥

निरया भवन्ति अधस्तने मध्ये द्वीपाम्बुराशयः असंखाः ।
स्वर्गः त्रिषष्टि भेदः एतस्मात् ऊर्ध्वं भवति मोक्षः ॥

अर्थ—नरक अधो लोक में हैं, मध्य लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं, ऊर्ध्व लोक में स्वर्गों के त्रेसठ पटल हैं, इन से ऊपर मोक्ष है ।

इगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे ।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडुआदितेसट्ठी ॥

एकत्रिंशत् सप्त चत्वारि द्वौ एकैकं षट्कं चतुःकल्पे ।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादि त्रिषष्टिः ॥

अर्थ—इन पटलों का ब्यौरा निम्न प्रकार है:—

सौधर्म, ईशान स्वर्ग के ३१ पटल, सनत्कुमार और माहेन्द्र के ७ पटल, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर के ४ पटल, लांतव और कापिष्ट के २ पटल, शुक्र महा शुक्र में १ पटल, शतार और सहस्रार में १ पटल, आणत प्राणत के ३ पटल तथा आरण और अच्युत के ३ पटल इन चारों के मिलाकर ६ पटल, अधो-मध्य और ऊर्ध्व ग्रैवेयिकों के तीन तीन के हिसाब से ९ पटल, नौ अनुदिश विमानों का १ पटल पंच अनुत्तरों का एक पटल, इस प्रकार कुल ६३ पटल हैं।

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥

अशुभेन निरयतिर्यञ्चम् शुभोपयोगेन दिविज-नरसौख्यम्।
शुद्धेन लभ्यते सिद्धिं एवं लोकः विचिन्तनीयः ॥

अर्थ—यह संसारी जीव अशुभ भावो से नर्क और तिर्यच गति को प्राप्त होता है, शुभोपयोग से देव तथा मनुष्य गति के सुखों को भोगता है, शुद्ध भावों से मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार लोक भावना का चिन्तवन करना चाहिये।

(यह लोक अनादि निधन है, और न कोई इसका हर्त्ता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं। इन जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने वाले द्रव्य को ही जिनेन्द्र प्रभु ने आकाश कहा है। आकाश के दो भेद हैं, लोकाकाश और अलोकाकाश, आकाश द्रव्य अनन्त है, अमूर्तीक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अर्धम और काल यह पांचो द्रव्य

आकाश में जहां तक पाये जाते हैं, उस को लोकाकाश कहते हैं, बाकी को अलोकाकाश कहते हैं, इस लोक के तीन भाग हैं—पाताल लोक, मध्य लोक और उर्ध्व लोक। अधो लोक में नर्क है नरक की सात पृथ्वी हैं, रत्न प्रभा, उसके नीचे शर्करा प्रभा, उसके नीचे बालुका प्रभा, उसके नीचे पंक प्रभा, उसके नीचे धूम प्रभा, उसके नीचे तमः प्रभा और सब से नीचे महांतमः प्रभा है। नरक के नीचे के स्थान में निगोद आदि पंच स्थावर जीव भरे हुये हैं। रत्न प्रभा के तीन भाग हैं—खर, पंक और अब्बहुल, खर भाग में सात प्रकार के व्यन्तर, पङ्क भाग में असुर और राक्षस रहते हैं। अब्बहुल भाग से नरक प्रारम्भ होता है, इस में नारकी रहते हैं। मध्यम लोक में असंख्यात् द्वीप समुद्र हैं, मनुष्यों तिर्यंचों के रहने की पृथ्वी और सूर्य चंद्रमा नक्षत्र आदि हैं। मध्य लोक में ढाई दीप प्रमाण मनुष्य लोक है। ऊर्ध्व लोक में सोलह स्वर्गों, नव ग्रैवेयिक, नव अनुदिश तथा पंचानुत्तर के त्रेसठ पटल हैं इन में देव रहते हैं, इनके ऊपर मोक्ष-शिला या सिद्ध शिला है, जहां अनंत सिद्ध विराजमान हैं, इत्यादि लोक की रचना तथा स्वरूप के चिन्तवन करने को लोक भावना कहते हैं।

आदि मध्य तथा अन्त से रहित, शुद्ध बुद्ध एक स्वरूप का धारक जो सिद्ध परमात्मा है, वह केवल ज्ञान का स्वामी है वह साक्षात् केवल ज्ञान स्वरूप है, उसी ज्ञान स्वरूपी शुद्ध आत्मा में लोक के जितने पदार्थ हैं आलोके जाते हैं अर्थात् देखे जाते हैं, जाने जाते हैं। इस कारण वह निज शुद्धात्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोक नाम के धारक निज शुद्धात्मा में जो अवलोकन कहिये देखना है वह निश्चय लोक है।

जीव इस चतुर्गति रूप संसार में अपने कर्म बन्धन के निमित्त से भ्रमण कर रहा है—नरकगति और तिर्यंच गति अशुभ हैं, मनुष्य गति और देव गति शुभ है। जीव अपने अशुभ तथा शुभ भावों के

निमित्त से पाप पुन्य का बंध करके अशुभगति या शुभगति को प्राप्त होता है। भाव तीन प्रकार के होते हैं, अशुभ, शुभ तथा शुद्ध। मिथ्यात्व, तीव्र कषाय और संसार भोगो में लिप्तता के निमित्त से अशुभ भाव होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह पाप रूप परिणाम, मिथ्यात्व, अज्ञान रूप भाव जैसे झूठे देव, झूठे गुरु तथा झूठे शास्त्रों में श्रद्धान करना, राग द्वेष रूप परिणाम करना, सप्त व्यसन का सेवन करना, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप तीव्र परिणामों का होना इत्यादि ये सब अशुभ परिणाम हैं, ये नरक और तिर्यंच गति के कारण हैं।

शुभ भाव—दान पूजा करने रूप परिणाम, निज आत्मा तथा दूसरों के कल्याण करने रूप भाव, दया रूप परिणाम, परोपकारमय भाव, देव पूजा, गुरु भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, दया पालन रूप इत्यादिक सब भाव शुभ भाव हैं। सच्चे देव, सच्चे गुरु तथा सच्चे शास्त्र की विनय करने रूप, भक्ति करने रूप परिणाम शुभ भाव है। धर्म प्रभावना करने के परिणाम, धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा रूप परिणाम, संसार के दीन दुखी जीवों के कल्याण करने के भाव इत्यादि ये सब शुभ भाव हैं, ये पुण्य बंध के कारण हैं। शुभ गति के कारण हैं।

ये दोनों प्रकार के भाव शुद्ध भाव की अपेक्षा हेय हैं; बंध का कारण हैं। शुभ भाव अशुभ की अपेक्षा उपादेय है परन्तु आत्म कल्याण की अपेक्षा बंध का कारण होने से वे भी त्याज्य हैं। एक शुद्ध चिदानन्द रूप भाव ही उपादेय है, वहां न राग है न द्वेष है। किसी प्रकार का भी विभाव परिणमन वहां नहीं है। इसी भाव से संवर और निर्जरा होती है, कर्मों की निर्जरा हो निज शुद्धात्म तत्व की प्राप्ति होती है।

ऐसा समझ जो मुमुक्षु विचार करते हैं कि इस लोक में स्थित सर्व परद्रव्य, परभाव तथा परपर्यायों से सर्वथा भिन्न शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा

अमूर्तिक, चैतन्य मई मेरा अपना स्वरूप ही उपादेय है और दृढ भावना करते २ उसी स्वरूप में लीन हो जाते हैं वे ही अभेद रत्न त्रय के बल से निश्चय पूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गी हो कर्म बंध को तोड़ते हैं, अपनी आत्मा की शुद्धि को बढ़ाते हैं, मोह जाल को नष्ट करते हैं, निज अनुभूति को जागृत करते हैं, उसी के रस के रसिक हो परम अद्‌भुत स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त होते हैं।)

॥ कुण्डलियां ॥

लोकाकार विचारकैं, सिद्ध स्वरूप चितारि ।
राग विरोध विडारकैं, आतम रूप सवारि ॥
आतम रूप संवारि मोक्ष पुर बसो सदाही ।
आधि व्याधि जरमरन आदि दुख ह्वै न कदाही ॥
श्री गुरु शिक्षा धारि टारि अभिमान कुशोका ।
मन थिर कारन यह विचार निज रूप सुलोका ॥

(जयचन्द्र)

दो०—चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान ।
तामें जीव अनादि तै, भरमत है बिन ज्ञान ॥

भरमत है बिन ज्ञान लोक में कभी न हित उपजाया ।
पंच परावर्त करते करते सम्यक् ज्ञान न पाया ॥
अब तू मोह कर्म को हर कर तज सब जग की आशा ।
जिन पद ध्याय लोक सिर ऊपर करले निज थिर वासा ॥

(भूधर दास)

छंद—किनहू न करो न धरौको, षट् द्रव्य मयी न हरैको ।
ता लोक माहिं बिन समता, दुख सहे जीव नित भ्रमता ॥

(दौलत राम)

अशुचि भावना

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छरणं ।
किमिसंकुलेहिं भरिदमचोक्खं देहं सयाकालं ॥
अस्थिभिः प्रतिबद्धं मांसविलिप्तं त्वचा अवच्छन्नम् ।
क्रिमिसंकुलैः भरितं अप्रशस्तं देहः सदाकालम् ॥

अर्थ—यह शरीर हड्डियों का बना है, मांस से लिप्त है, चमड़े से मंढा हुवा है और कीड़ों के समुदाय से भरा हुवा है। इस प्रकार यह शरीर सदैव ही अप्रशस्त अर्थात् अपवित्र है।

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं ।
सडणपडणमहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं ॥
दुर्गंधं बीभत्सं कलिमलभृतं अचेतनं मूर्त्तम् ।
स्खलनपतनस्वभावं देहं इति चिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—ज्ञानी को नित्य ऐसा चिन्तवन करना चाहिये कि यह शरीर दुर्गंधमय है, घिनावना है, मैल से भरा है, अचेतन है, मूर्तीक है और इसका स्वभाव सड़ना व झड़ना है।

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसँकुलँ मुत्तपूयकिमिबहुलँ ।
दुग्गँधमसुचि चम्ममयर्माणच्चमचेयणँ पडणम् ॥
रसरुधिरमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं मूत्रपूयकृमिबहुलम् ।
दुर्गन्धं अशुचि चर्ममयं अनित्यं अचेतनं पतनम् ॥

अर्थ—यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद (चरबी) हड्डी तथा मज्जा से भरपूर है; मूत्र तथा सड़े हुवे खून और कीड़ों की इसमें बाहुल्यता है। यह दुर्गंधमय, अपवित्र, चमड़े से ढका हुआ, अनित्य, जड़ और नाशवंत है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा॥
देहात् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितः अनन्तसुखनिलयः।
प्रशस्तः भवति आत्मा इति नित्यं भावनां कुर्यात्॥

अर्थ—सदा ऐसी भावना करनी योग्य है कि यह आत्मा जो शरीर में रहता है, शरीर से भिन्न है, कर्म रहित है, अनन्त सुख का धाम है तथा शुद्ध है।

इस संसार में जितने भी संसारी प्राणी हैं, उन सब के शरीर का संयोग है। मोही प्राणी इस बाहरी शरीर को ही अज्ञान वश आपा मान रहा है, उसके जन्म में अपना जन्म, उसके नाश में अपना मरण, उसके रोगी होने पर अपने को रोगी, उसके दुर्बल होने पर अपने को दुर्बल, उसके वृद्ध होने पर अपने को वृद्ध, उसके नीरोगी होने पर अपने को नीरोगी, उसके सबल होने पर अपने को सबल, उसके युवान होने पर अपने को युवान मानता है। यदि राज्य कुल में जन्म लेता है तो अपने को राजा, दारिद्री कुल में जन्म लेता है तो अपने को दारिद्री मानता है। इस प्रकार इस शरीर की जितनी दशायें होती हैं उन सब को यह मोही जीव मेरी मेरी कहता है, इस शरीर के मोह में इतना उन्मत्त होता है कि रात दिन शरीर का ही चर्चा किया करता है, सवेरे से शाम होती है,

शाम से सवेरा हो जाता है, यह जीव इस शरीर की ही रक्षा, इसके पालन पोषण तथा इस ही के बनाओ सिंगार में लगा रहता है। इस शरीर के लिये ही पाप करता है, इसके लिये घोर से घोर परिश्रम करता है, इस शरीर का यदि कोई अपमान करता है तो उससे लड़ता झगड़ता है तथा हजारों रुपया इसके लिये कभी कभी मुक़द्दमा लड़ाने में खर्च करता है, पता नहीं क्या क्या यह जीव इस शरीर के लिये करता है। परन्तु जिस शरीर को यह अपना मान रहा है और जिसके लिये यह इतना मतवाला हो रहा है उसका स्वभाव क्या है? यदि शान्ति पूर्वक, विवेक बुद्धि से इसके स्वभाव पर विचार किया जावे तो मालूम होगा कि यह शरीर मेरे शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मा से भिन्न है इसका स्वभाव सड़न, गलन, पड़न, मिलन, बिछुड़न स्वरूप है, मैं अखंड, अविनाशी, अजात, अजर अमर, अमूर्तिक शुद्ध ज्ञातादृष्टा ईश्वर स्वरूप परमानन्दमय अनुपम एक सत् पदार्थ हूं।

यह शरीर अत्यंत अशुचि है माता के रुधिर तथा पिता के वीर्य के संयोग से इसकी उत्पत्ति होती है, मलभाजन के समान अशुचि का पात्र है, ऊपर से त्वचा से ढका है, नित्य ही इसके नव मल द्वारों से अपवित्र मल बहा करता है, सप्त धातुमय शरीर रुधिर, मांस, हाड़, चाम, वीर्य, मज्जा, नसों का जालमय है। मल मूत्र तथा अनेक प्रकार के कीड़ों से भरा महा अशुचि है। यह शरीर रूपी महल हड्डियो से बना है, नसों से बंधा है, मल मूत्रादि से भरा है, कीड़ों से पूर्ण है, मांस से भरा है, चमड़े से ढका है, यह तो सदा ही अपवित्र है समुद्र के जल से भी यदि इसको धोया जावे तो भी यह शुद्ध नहीं हो पाता। कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर २ सुगंधित पदार्थों को भी यह मनुष्यों का शरीर अपने संसर्ग मात्र से अपवित्र और अशुचि कर देता है, ऐसा कोई

पदार्थ संसार में नहीं जो इस शरीर को पवित्र बना सके। जितने भी पदार्थ पवित्र माने जाते हैं यदि वे इस शरीर के संपर्क में आ जाते हैं तो वे इसके सम्बन्ध से अपवित्र हो जाते हैं। कोयले को ज्यों २ धोया जाता है त्यों २ कालिमा ही कालिमा अन्दर से निकलती चली आती है उज्ज्वल नहीं होता, ऐसे ही इस शरीर के स्वभाव को जान इसे पवित्र मानना मिथ्यादर्शन है।

यह शरीर उत्तम क्षमादि दस लक्षण धर्म का साधन करने से रत्नत्रय रूप धर्म का आराधन करने से आत्मा का संबंध होने के कारण वन्दने योग्य पवित्र हो जाता है। धन धान्यादिक परिग्रह, पंच इन्द्रियों के विषय, मिथ्यात्व तथा क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय शुद्ध चिदानन्द रूप अमूर्तिक आत्मा को मलीन करने वाले हैं, इस जीव को पाप रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने वाले हैं, इसे निन्द्य बना देते हैं, दुर्गति में पटक देते हैं, यह देह तो स्वभाव से अशुचि है, उसकी शुद्धि कैसे होगी? आत्मा स्वभाव से शुद्ध है काम क्रोध आदि कषायों ने, मिथ्यात्व ने, विषय भोगों ने इसे मलीन बना रखा है इस प्रकार देह के स्वरूप को जान, इस शरीर से ममत्व को छोड़ो, रागादिक कर्म मल को दूर करने का प्रयत्न करो। दस लक्षण धर्म तथा रत्नत्रय धर्म का पालन करो।

यह शरीर सदैव ही रोगों से भरा रहता है, सर्व काल अशुचि है सर्वथा विनाशीक है, दुःख उपजाने वाला है। केवल मल पुद्गलों के समूह और पवित्र भोजन को अपवित्र कर देने वाले इस शरीर में एक मात्र मोक्ष साधन करने का सामर्थ्य है, यही इसके सम्बन्ध में एक अत्यन्त सार बात जान लेनी चाहिये। इस अशुचि भावना के भाने से शिक्षा मिलती है कि हम इस शरीर पर मोह न करें, इसके दास न बन

इसके स्वामी बने रहें, इससे यथा योग्य लाभ उठावें, इससे पूरा २ लाभ उठावें, आवश्यकतानुसार उचित सात्विक भोजन देकर उससे पूरा २ काम लेवें, यथाशक्ति तप, दान, दया, क्षमा और परोपकार आदि करें और शरीर प्राप्ति को सफल बनावें।

(इस लिये हम सबको उचित है कि इस शरीर को पुद्गलमई, अशुचि, नाशवंत तथा आयु कर्म के आधीन क्षणिक समझ कर इसके द्वारा जो कुछ आत्म हित साधन हो सके सो शीघ्र कर लें) शरीर का स्वरूप आत्मा के स्वरूप से सर्वथा विलक्षण है, इसे अपने से भिन्न अचेतन अशुचि जान इससे वैराग्य भाव ही रखना चाहिये और इसी शरीर के द्वारा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे फिर हमें यह शरीर धारण ही न करना पड़े, इसकी कैद में हमें फिर कभी न पडना पड़े और हमें सदैव के लिये स्वाधीन परमानन्द मय मुक्ति पद की प्राप्ति हो जावे। (एक ज्ञानी विचारता है कि मैं मल से रचे हुवे इस बाहरी शरीर से भिन्न हू, तथा मन के विकल्पों से भी भिन्न हू, मैं एक चेतना मूर्ति हू, शुद्ध हू, निर्मल हू, शान्त हू, सदा सहज सुख का धारी हू जिसके चित्त में ऐसी श्रद्धा हो, जो शान्त हो उसी के अशुचि भावना कही जाती है।)

जो ज्ञानी विवेकी महानुभाव संसार तथा इन्द्रिय भोगों से विरक्त होकर अपने आत्म कल्याण के निमित्त ध्यानादि पवित्र कार्यों द्वारा इस शरीर को क्षीण करते हैं, वे ही इस शरीर धारण का यथार्थ लाभ उठाते हैं।

दोहा—स्वपर देह को अशुचि लख, तजै तास अनुराग ।
ताकै सांची भावना, सो कहिये बड भाग ।।

(जयचन्द्र)

कुण्डलियां—दियें चाम चादर मढी, हाड़ पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह ।।
और नहीं घिन गेह देह सम अशुचि पदारथ कोई ।
अस्थि मांस मल मूत्र अशुचि सब याही तन तैं होई ।।
चंदन केशर आदि वस्तु तन परसत शुचिता खोवै ।।
ऐसे तन में राच रह्मो, तब कैसे शिव मग जोवै ।।

(भूधर दास)

छंद—यह रुधिर राध मल थैलो, कीकस बसादितैं मैली ।
नव द्वार बहैं घिनकारी, असि देह करै किम यारी ।।

(दौलत राम)

आस्रव भावना

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥
मिथ्यात्वं अविरमणं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पञ्चपञ्चचतुः त्रिकभेदाः सम्यक् परिकीर्तिताः समये ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) रूप परिणाम कर्म आस्रव के कारण हैं। इनके क्रमशः पांच, पांच, चार और तीन भेद जिन शास्त्र में सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं।

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥
एकान्तविनयविपरीतसंशयं अज्ञानं इति भवति पञ्च ।
अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं तत् भवति नियमेन ॥

अर्थ—मिथ्यात्व के पांच भेद हैं—एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान। अविरति के, नियम से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पांच भेद हैं।

कोहो माणो माया लोहो वि य चउविहं कसाय खु ।
मणवचिकायेण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥

क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधः कषायः खलु।
मनोवचःकायेन पुनः योगः त्रिविकल्प इति जानीहि॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद कषाय के हैं और योग के मन, वचन, काय ये तीन भेद हैं, ऐसा जानना चाहिये।

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वरिणदं हवे दुविहं।
आहारादीसरणा असुहमणं इदि विजाणेहि॥
अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम्।
आहारादिसंज्ञा अशुभमनः इति विजानीहि॥

अर्थ—मन, वचन, काय इन तीनों योगों में से प्रत्येक के अशुभ और शुभ दो भेद बताये गये हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें अशुभ मनोयोग के कारण हैं, ऐसा जानना चाहिये।

किरहादितिरिण लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्दिपरिणामो।
ईसाविसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा बेंति॥
कृष्णादितिस्रः लेश्याः करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः।
ईर्षाविषादभावः अशुभमन इति च जिनाः ब्रुवन्ति॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओं के परिणाम, इन्द्रिय सुखों में गृद्धि परिणामों का होना, ईर्षा तथा विषाद रूप भाव, यह सब भाव अशुभ मन के हैं ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

रागो दोसो मोहो हास्सादी-णोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति॥

रागः द्वेषः मोहः हास्यादि-नोकषायपरिणामः ।
स्थूलः वा सूक्ष्मः वा अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति ॥

अर्थ—राग द्वेष, मोह तथा हास्यादि (हास्य, रति, अरति, भय शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद) रूप परिणाम चाहे तीव्र होवें या मन्द, अशुभ मन के भाव हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

भत्तित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि ।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥
भक्तस्त्रीराजचौरकथाः वचनं विजानीह अशुभमिति ।
बन्धनछेदनमारणक्रिया सा अशुभकाय इति ॥

अर्थ—भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा और चोर कथा इन चारों विकथाओं का करना अशुभ वचन जानो । बांधना, छेदना, मारना आदि क्रियाये अशुभ काम की क्रियाये हैं।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥
मुक्त्वा अशुभभावं पूर्वोक्तं निरवशेषतः द्रव्यम् ।
व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामं शुभमनः जानीहि ॥

अर्थ—पहले कहे हुवे सर्व अशुभ भावों की व द्रव्यों को छोड़कर जो परिणाम अहिंसादि व्रत, ईर्या आदि समिति, शील संयम में अनुरक्त हैं उनको शुभ मन जानो ।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा ॥

संसारच्छेदकारणवचनं शुभवचनमिति जिनोद्दिष्टम् ।
जिनदेवादिषु पूजा शुभकायमिति च भवति चेष्टा ॥

अर्थ—जिन वचनों द्वारा संसार के छेद का साधन बताया जावे वे शुभ वचन हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। श्री जिनेन्द्र देव की पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, संयम तथा दान आदि की चेष्टा करना, उद्यम करना शुभ काय की क्रियायें है।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे ।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ॥
जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दुःखजलचराकीर्णे ।
जीवस्य परिभ्रमणं कर्मास्रवकारणं भवति ॥

अर्थ—जिसमें क्षुधा, तृषा आदि दोषरूप तरगें उठती हैं और जो दुःख रूप जलचरों से भरपूर हैं ऐसे जन्म रूप समुद्र में जीव का परिभ्रमण कर्मास्रव का कारण है।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे ।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥
कर्मास्रवेण जीवः ब्रूडति संसारसागरे घोरे ।
या ज्ञानवशा क्रिया मोक्षनिमित्तं परम्परया ॥

अर्थ—कर्मों के आस्रव के कारण यह जीव इस ससार रूपी घोर समुद्र में डूबता है, ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया ही परपरा से मोक्ष का कारण है।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं ।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥
आस्रवहेतोः जीवः जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम् ।
आस्रवक्रिया तस्मात् मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीया ॥

अर्थ—कर्मास्रव के कारण यह जीव इस संसार रूप समुद्र में गोते खाता है, इस लिये जो क्रिया कर्मों के आस्रव का कारण है वह मोक्ष का कारण नहीं है ऐसा चिन्तवन करना चाहिये ।

पारंपज्जाएण दु आवसकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥
पारम्पर्येण तु आस्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम् ।
संसारगमनकारणमिति निन्द्यं आस्रवं जानीहि ॥

अर्थ—कर्मों का आस्रव करने वाली क्रिया परंपरा से भी मोक्ष प्राप्त कराने में असमर्थ है, कर्मास्रव को निंद्य जानो, क्योंकि यह संसार भ्रमण का कारण है ।

पुव्वुत्तासवभेया णिच्छयणएयण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिमुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥
पूर्वोक्तास्रवभेदाः निश्चयनयेन न सन्ति जीवस्य ।
उभयास्रवनिर्मुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—पहले कहे गये मिथ्यात्व अविरति आदि आस्रव के भेद निश्चय नय से जीव में नहीं होते हैं, इस लिये आत्मा को शुभ अशुभ दोनो ही प्रकार के आस्रव से रहित सदैव ही चिन्तवन करना चाहिये ।

कार्मारण वर्गणायें तीन लोक में व्याप्त हैं, उनका आत्मा की ओर खिंचकर आना तथा कार्माण शरीर के साथ बंधना एक ही समय में होता है, बन्ध के सन्मुख होने को आस्रव और बन्धने को बध कहते हैं। इस आस्रव और बन्ध दोनों के निमित्त कारण जीव के अशुद्ध भाव भी समान हैं। मूल भाव दो हैं—योग और कषाय। आत्मा में कर्मों को और अन्य अन्य आवश्यक पुद्गल वर्गणाओं को आकर्षण करने की एक शक्ति है जिसे योग शक्ति कहते हैं। प्रत्येक संसारी जीव के साथ मन, वचन, काय इन तीनों योगों में से एक या दो या तीन होते ही हैं। जब इन में से कोई कुछ कार्य करता है तब ही इनमें व्यापक आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन होता है, उसी समय योग शक्ति पुद्गलों को खेंच लेती है।

योग शक्ति जब कर्मों को खींचती है तब उस योग शक्ति के साथ कषाय का रङ्ग भी रहता है, कषाय के संयोगवश योग शक्ति ज्ञाना वरणादि अष्ट कर्म रूप होने योग्य, कार्माण, कभी सात कर्म होने योग्य, कभी छह कर्म होने योग्य कार्माण वर्गणाओं को खींचती है। जब योग शक्ति कषाय रहित होती है, तब केवल साता वेदनीय कर्म योग्य वर्गणाओं को खींचती है। इस प्रकार आस्रव के कारण योग और कषाय है।

बन्ध चार प्रकार का होता है:- कार्माण वर्गणाओं में कर्म की प्रकृति या स्वभाव का होना प्रकृति बध है, जैसे ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का होना कि अमुक कार्माण वर्गणाओं का स्वभाव ज्ञान को ढकने का है, अमुक का स्वभाव दर्शन को ढकने का है, अमुक का स्वभाव मोह को उत्पन्न करने का है इत्यादि तथा किस कर्म के योग्य कितनी संख्या में कर्म वर्गणायें आकर बन्धी, इसे प्रदेश बन्ध कहते हैं, ये दोनों बन्ध योगों की विशेषता से होते हैं। अर्थात् मन, वचन, काय इन तीनों योगों द्वारा प्रकृतिव प्रदेश बन्ध होता है।

बंध प्राप्त कार्माण वर्गणायें कितने समय तक आत्मा के साथ बंधी हुई रहेंगी, इस काल की मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं। ये बन्ध प्राप्त कार्माण वर्गणायें अपना फल तीव्र या मंद देंगी। इस फलदान शक्ति की प्रगटता को अनुभागबंध कहते हैं, ये दोनों स्थिति बन्ध और अनुभाग बंध कषायों के अनुसार होते हैं। आयु कर्म को छोड़ कर बाकी सात कर्मों की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक व मंद कषाय से कम पड़ती है। आयु कर्म में नर्कायु की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक व मंद कषाय से कम पड़ती है।

आठों कर्मों में पाप पुण्य रूप का भेद है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातीय कर्म पाप कर्म कहलाते हैं, क्योंकि ये आत्मा के स्वभाव को मलीन या विपरीत करते हैं। बाकी चार अघातीया कर्म वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु शुभ अशुभ रूप दो प्रकार हैं। साता वेदनीया, शुभ नाम, उच्च गोत्र तथा शुभ आयु पुण्य कर्म हैं; और असाता वेदनीय, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा अशुभ आयु पाप कर्म हैं।

जब कषाय तीव्र होती हैं तब पाप कर्मों मे अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मों में कम पड़ता है। जब कषाय मंद होती है तब पुण्य कर्मों में अनुभाग अधिक व पाप कर्मों में कम पड़ता है।

योग और कषायों से साधारण रूप से आयु कर्म को छोड़ कर सात कर्मों का बंध सदैव ही हुवा करता है; आयु कर्म का बंध विशेष समय होता है। जब दान, सेवा, परोपकार, दया, क्षमा, शील, संतोष, भक्ति, जप-तप आदि शुभ भाव होते हैं तब कषाय मंद होती है; उस शुभोपयोग रूप मंद कषाय से चार घातीय कर्म का बंध तो मंद अनुभाग रूप होगा, परन्तु उसी समय पाप रूप अघातीय कर्म का बन्ध न होकर साता वेद-

नीयादि पुण्य रूप अघातीय कर्म का बंध तीव्र अनुभाग रूप होगा। जिव हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह की तृष्णा, इन्द्रिय विषय की लंपटता, पर को हानि, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ व तीव्र शोक, भय, जुगुप्सा व काम भाव आदि अशुभ भाव होते हैं, तब कषाय तीव्र होती है, उस समय चार घातीय कर्म का तथा असाता वेदनीय रूप व पाप रूप अघातीय कर्म का बंध तीव्र अनुभाग रूप होगा, उस समय साता वेदनीयादि पुण्य कर्म का बंध नहीं होगा।

इन्हीं आश्रव व बंध के मूल कारण योग और कषाय भावों का विस्तार सत्तावन आस्रव भावों में किया गया है। सत्तावन आस्रव भाव निम्न प्रकार हैं—

पांच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय और पंद्रह योग। इस प्रकार कुल सत्तावन आस्रव हैं।

१. **मिथ्यात्व**—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान न होकर मिथ्या श्रद्धान होना मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व पंच प्रकार है:—

(१) एकान्त मिथ्यात्व—वस्तु में अनेक स्वभाव होते हैं, परन्तु संसार के अल्पज्ञ जीव वस्तु के एक ही स्वभाव को लेकर हठधर्मी से उसी के अनुसार उसका श्रद्धान कर लेते हैं—जैसे द्रव्य मूल स्वभाव की अपेक्षा नित्य है, पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य है। नित्य अनित्य रूप वस्तु है, ऐसा न मान कर यह हठ करना कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है ये एकान्त मिथ्यात्व है। श्री वीतराग प्रभु हमारा न कुछ बिगाड़ते हैं और न कुछ संवारते हैं क्योंकि वे तो सर्वथा राग द्वेष से रहित हैं, परन्तु उनका ध्यान करने से, उनकी वीतरागता का चिंतन करने से हमारे अपने

परिणामों के वीतरागता आती है। जिससे पाप कर्मों का क्षय होता है, इस हेतु उपचार नय से वह हमारे दुख को दूर करने वाले हैं, परन्तु उन को साक्षात् दुःखों का दूर करने वाला कर्ता परमेश्वर मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

(२) विनय मिथ्यात्व—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अपेक्षा न करके अर्थात् इस बात को बिना विचारे कि जिसकी मैं विनय करता हू उसमें रत्नत्रय रूप तीन गुण पाये जाते हैं या नहीं, समस्त देव कुदेवों की, गुरु कुगुरु की समान विनय भक्ति करना और समस्त प्रकार के मत मतांतरों को बिना विवेक के एक सरीखा ही मानना और उनका आदर करना विनय मिथ्यात्व है।

(३) विपरीत मिथ्यात्व—उल्टी बात मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं, जैसे हिंसा में धर्म मान बैठना, शरीर को ही आत्मा समझना।

(४) संशय मिथ्यात्व—किसी वस्तु को संशय रूप मानना संशय-मिथ्यात्व है, यथार्थ श्रद्धान न होकर भ्रम में पड़े रहना कि यह बात ऐसे है या अन्य प्रकार है, जैसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र इन तीनों की एकता रूप मोक्ष मार्ग है या कि नहीं।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व—तत्वों की जानने की चेष्टा न करके अंधाधुन्ध देखा देखी किसी भी तत्व को मान लेना अज्ञान मिथ्यात्व है—पशु बलि को या अन्य किसी पाप क्रिया को दूसरों की देखा देखी करके धर्म मान लेना।

२. अविरति भाव—अपने ही शुद्ध आत्मीक स्वभाव में आनंदित रहना आत्मा का निज स्वभाव है, उस परम आनंद से विमुख

होकर यह जीव बाह्य विषयों में लिप्त होता है इसको अविरति कहते हैं, यह पांच प्रकार भी है और बारह प्रकार भी। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पंच पाप अविरति भाव हैं, इन्हीं के त्याग को व्रत कहते हैं; अथवा ये ही अविरति पांचों इन्द्रिय और छठे मन को वश में न रख कर उनका दास होने रूप प्रवृत्ति करना तथा पृथ्वी आदि छह काय के प्राणियों की विराधना रूप भाव रखना ऐसे छह इन्द्रिय असंयम और छह प्राण असंयम दोनों को मिला कर बारह प्रकार अविरत भाव हैं।

३. कषाय—आत्मा का विभाव परिणाम जो सम्यक्त्व देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात् चारित्र रूप परिणामों का घात करे और जीव को चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करावे कषाय कहलाता है। कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इन चारों कषायों में से प्रत्येक के चार २ भेद हैं—

(क) अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय दीर्घ काल तक बने रहते हैं, कठिनता से मिटते हैं। इनके उदय से सम्यक् दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट नहीं होते। इन कषायों के दूर होने पर ही प्रगट होते हैं।

(ख) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—कषायों की यह चौकडी निश्चयपूर्वक एकोदेश चारित्र को रोकती है और इसी लिए इनको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं, इनकी वासना छह महीने तक रहती है।

(ग) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—यह चौकड़ी सकल संयम अर्थात् मुनि चारित्र को रोकते हैं। कषायों की इस चौकड़ी के नाश से ही मुनि पद प्राप्त होता है, इस चौकडी का वासना काल एक पक्ष का है।

(घ) संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—यह चौकड़ी संयम के साथ देदीप्यमान रहती है; यह संज्वलन कषाय की चौकड़ी और हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद इनके नाश से यथाख्यात् चारित्र की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार १६ कषाय और ६ कषाय मिलकर कुल २५ कषाय होते हैं।

४. योग—मन, वचन, काय की क्रिया को योग कहते हैं। मन, वचन और काय के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे योग कहते हैं। योग के तीन भेद हैं—

(अ) मनोयोग—मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। इस मनोयोग के चार भेद हैं—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग।

(आ) बचन योग—बचन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे बचन योग कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं—सत्य बचन योग, असत्य बचन योग, उभय बचन योग और अनुभय बचन योग।

(इ) काय योग—काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे काय योग कहते हैं। इसके सात भेद हैं—औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, अहारक मिश्र, कार्माण।

नोट—जिस विचार या बचन को सत्य या असत्य कुछ भी न कह सकें उसको अनुभय कहते हैं।

मनुष्य तिर्यंचों के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था में औदारिक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था में औदारिक योग होता है।

देव व नारकीयों के स्थूल शरीर को वैक्रियक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था में वैक्रिय मिश्र योग होता है और पर्याप्त अवस्था में वैक्रियक योग होता है।

अहारक समुद्घात में जो अहारक शरीर बनता है उसकी अपर्याप्त अवस्था में अहारक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था में अहारक योग होता है। एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के प्राप्त होने तक मध्य की विग्रह गति में कार्माणयोग होता है, जिसके निमित्त से आत्मा के प्रदेश सकम्प हों और कर्मों को खींचा जावे उसे योग कहते हैं। इस प्रकार कुल पंद्रह योग होते हैं, एक समय में एक योग होता है।

इस प्रकार ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग कुल मिलकर ५७ आस्रव होते हैं।

योग शुभ अशुभ रूप से दो प्रकार के होते हैं। शुभ योगों के द्वारा शुभ कर्मों का और अशुभ योगों द्वारा अशुभ कर्मों का आस्रव हुवा करता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—भाव आस्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने को भावास्रव कहते हैं और द्रव्य कर्म अर्थात् पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप होना द्रव्यास्रव है।

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं, इन सम्बन्धी विचारों से अशुभ मनोयोग होता है और अशुभ मनोयोग से अशुभ आस्रव होता है।

लेश्यायें—कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं और शरीर के कृष्ण, नील, पीतादि वर्णों को द्रव्य लेश्या कहते हैं—

लेश्या से कर्म बंध होता है, कर्म दो प्रकार के होते हैं—पाप और पुण्य। इसी प्रकार लेश्या भी दो प्रकार की हैं—शुभ और अशुभ। शुभ लेश्या से पुण्य होता है और अशुभ से पाप। शुभ और अशुभ लेश्याओं के तीन २ भेद किये गये हैं—

(१) कृष्ण लेश्या—वर्ण की अपेक्षा यह भ्रमर समान होती है। इस लेश्या वाले के तीव्र क्रोध होता है, तीव्र राग द्वेष होता है, दुराग्रही होता है, उसके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं—वैर भाव उसके बना रहता है, हर समय झगड़ा करने के परिणाम रहते हैं, उसके धर्म नहीं, दया नहीं होती, मद्य मांस का लोलुपी होता है, पाप में आसक्त रहता है। इस लेश्या के धारक के तीव्र परिणाम होते हैं।

(२) नील लेश्या—वर्ण की अपेक्षा नीलम समान—इस लेश्या का धारक स्वच्छंद होता है, अधिक परिग्रह रखता है, अधिक आरंभी होता है, ईर्षा करने वाला होता है, वर्तमान कार्य के करने में विवेक रहित होता है; पंच इन्द्रियों के विषयों का लोलुपी होता है, अहंकारी होता है, मायाचारी होता है, नील लेश्या वाले के तीव्रतर परिणाम होते हैं।

(३) कापोत लेश्या—वर्ण की अपेक्षा कबूतर समान—दूसरों पर क्रोध करना, परकी निंदा करना, दूसरो के दोष निकालना, शोक वान रहना, भय भीत रहना, दूसरों का तिरस्कार करना, अपनी प्रशंसा करना, हर समय अपनी ही अपनी डींग मारते रहना, दूसरो के यश और कीर्ति

को लोप करदेने की इच्छा रखना—यह इस लेश्या वाले के चिन्ह हैं। इस लेश्या वाले के तीव्र परिणाम होते हैं।

ये तीनों लेश्यायें अशुभ हैं, ये तीनों ही पापास्रव का कारण हैं।

(४) पीत लेश्या—वर्ण की अपेक्षा पीला—चारों कषाय हलके (मंद) होते हैं, इस लेश्या वाला हिताहित को समझता है, भले बुरे में भेद करता है, दूसरो के साथ भलाई करता है परन्तु अपने को हानि पहुचाकर नहीं।

(५) पद्म लेश्या—वर्ण की अपेक्षा कमल के समान—क्रोध आदि कषाय मंदतर, इस लेष्या का धारक बड़ा कोमल परिणामी और दयालु होता है, अपने स्वार्थ की परवाह न करके दूसरों का भला करने के लिये सदैव तत्पर रहता है, दूसरों द्वारा पहुचाये गये कष्टों को तथा वेदना को समता और शान्ति के साथ सहन करता है। क्षमावान शान्त स्वभाव होता है। पंच परमेष्ठी का भक्त होता है, पात्रों को दान देने वाला होता है।

(६) शुक्ल लेश्या—उज्वल सफेद वर्ण—कषायें बहुत ही मद होते हैं, नहीं के बराबर ही होते हैं, इस लेश्या का धारक बड़ा सौम्य और शान्त होता है, वह सब ही प्राणियों को अपने समान समझता है, संसारी बातों में आसक्त नहीं होता—अपने आत्मोत्थान की ओर लगा रहता है, अपने धार्मिक कार्यों का पालन करता है, वह दूसरों के उपकार के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तय्यार रहता है, यह लेश्या सबसे उत्कृष्ट है—यह अन्तिम तीन लेश्यायें शुभ लेस्यायें हैं इन से पुण्यास्रव होता है। इन छह लेश्याओं को समझने के लिये आम के वृक्ष का दृष्टान्त बड़ा ही उपयोगी है।

छह पुरुष जो भिन्न २ इन छहों लेश्याओं के धारक थे एक आम के वृक्ष के नीचे आये। वृक्ष आमों से लदा हुआ था—सब के ही चित्त में आम खाने की इच्छा थी—

कृष्ण लेश्या वाले ने कहा कि इस आम के वृक्ष को जड़ से ही उखाड़ डालो और फिर खूब आम ही आम खायेंगे।

नील लेश्या वाले ने कहा कि जड से न उखाड कर केवल इसके मोटे तने को काट दीजिये, फिर वृक्ष सारा ही गिर पड़ेगा खूब आम खाना।

कपोत लेश्या वाले ने प्रस्ताव किया कि नहीं, तना रहने दीजिये, बड़े २ टहने काट लीजिये।

पीत लेश्या वाला बोला—नहीं, ऐसा न करो, केवल उतनी ही टहनियां काट लीजिये जिनके कि तुम्हारी आवश्यकतानुसार आम लगे हुवे हैं।

पद्म लेश्या वाला कहने लगा—भाई, टहनियो और पत्तों को तोड़ने से तुम्हें क्या लाभ होगा? जितने और जैसे २ मीठे आम आपको चूसने के लिये चाहियें, वे तोड़ लीजिये।

शुक्ल लेश्या वाला अन्त में कहने लगा—भाई! हमारा प्रयोजन केवल आम खाने का है, जो पके २ सुन्दर आम टपक कर खुद ही टूट कर नीचे पड़े हैं उन्हें उठा लीजिये और अपने काम में लाइये। यह एक दृष्टान्त (**Illustration**) है जो भिन्न २ जीवों के परिणामों की दशा एक ही कार्य और एक ही ध्येय के सम्बन्ध में बताने वाला है।

इन्द्रियों के विषयों की लंपटता, ईर्षा और द्वेष के भाव, लाभ हानि में हर्ष विषाद करना यह सब पापास्रव के कारण हैं, हेय हैं। राग, द्वेष, मोह और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद,

नपुसक वेद ये नौ नो कषाय रूप परिणाम चाहे तीव्र हों चाहे मंद सब अशुभ मनोयोग द्वारा अशुभ आस्रव के कारण हैं। भोजन कथा, चोर-कथा, स्त्री कथा और राज कथा यह सब अशुभ वचन योग हैं। सवेरे से शाम तक हर समय खाने पीने की ही चर्चा करना, स्त्रियों के रूप रग का जिक्र करते रहना, चोरों की कथा करते रहना कि अमुक व्यक्ति बड़ा बलवान् है, ढीठ है, निर्भय है वह चाहे जिसको मार डाले, चाहे जिसको लूट लेवे, चाहे किसी का धन धान्य खोस लेवे, चाहे जिसके मकान पर, जायदाद पर कब्जा कर लेवे, उसकी प्रशंसा करना, उसके जैसा होने की इच्छा करना, यह सब दुर्भावनायें होने के कारण त्याज्य हैं। ऐसे ही राज्य कथा को भी समझना चाहिये। ये चारों ही कथायें विकथायें हैं, पापास्रव का कारण हैं। यदि इन्हीं कथाओं को किसी शुभाशय को लेकर किया जावे, समाजोद्धार के निमित्त, परोपकार के निमित्त, देशहित के निमित्त, वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराने के निमित्त तथा पाप पुण्य का भेद समझाने के लिये तो आशय भिन्न होने के कारण आस्रव में भी अन्तर पड जाता है। दूसरे को धमकाना बुरा है परन्तु जब एक अध्यापक अपने एक विद्यार्थी को उसके अपराध के लिये धमकाता है तो शुभ आशय होने से उसे पाप क्यों हो? प्रत्येक कार्य में भावों की प्रधानता है। कहा है कि—

दोहा—भावन ही से बंध है, भावन ही से मुक्ति।
जो जाने गति भाव की, सो जाने यह युक्ति॥

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग प्रमाद आदि अशुभ आस्रव के कारणों को छोड कर, व्रत; समिति, शील, सयम रूप परिणामों को जो शुभास्रव के कारण हैं धारण करना चाहिये। ठीक भी है पाप की अपेक्षा पुण्य उपादेय है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पांच व्रत हैं। जीव रक्षा के निमित्त सम्यक् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है; ये समिति पंच प्रकार हैं—

(१) ईर्या समिति—चार हाथ प्रमाण पृथिवी देख भाल कर शोध कर चलना।

(२) भाषा समिति—हित मित वचन बोलना।

(३) ऐषणा समिति—देख भाल कर शास्त्रोक्त विधि अनुसार सुकुल श्रावक के घर दिन में एक बार खड़े हो कर शुद्ध निर्दोष आहार करना।

(४) आदान निक्षेपण समिति—देख भाल कर किसी वस्तु को उठाना और रखना।

(५) प्रतिष्ठापन समिति—जीव जन्तु रहित स्थान में यत्नाचारपूर्वक मल मूत्रादि का क्षेपण करना। ये पांच समितियां हैं। शान्त स्वभाव तथा मन्द कषाय रूप प्रवृत्ति को शील कहते हैं। श्रावकाचारानुसार पंच अणुव्रतों के सहायक सप्त शील व्रत होते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ-दण्डव्रत ये तीन गुण व्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार ये कुल मिलाकर सप्त शील होते हैं।

(इस प्रकार पंच व्रत, पंच समिति और सप्त शील तथा छह काय के जीवों की रक्षा रूप प्राण संयम और पांचों इन्द्रिय छठे मन के निरोध रूप इन्द्रिय संयम ये सब शुभ मनोयोग द्वारा शुभास्रव का कारण है।)

जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु और जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित शास्त्र की पूजन, उपासना करना सब शुभ काय योग हैं। ससार का छेदन करने के

निमित्त कारण अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु की प्रशंसा स्तुति रूप वचन, धर्म कथा, निजात्म गुण स्तवन इत्यादि सब शुभ वचन योग हैं। यह कर्मास्रव ही क्षुधा तृषादि दोष रूप तथा अन्य अनेक मानसिक और शारीरिक दुःखों से भरपूर संसार रूप समुद्र में जीव को डुबाने वाला है। इसी आस्रव के कारण संसार रूप घोर समुद्र में गोते खाता है। यह संसारी जीव अज्ञान वश कर्मों का आस्रव कर संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानपूर्वक क्रिया ही परंपरा से मोक्ष का कारण है, ज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध द्रव्य में पर द्रव्य की इच्छा नहीं करता, अर्थात् पर द्रव्य में राग द्वेष मोह नहीं करता, वह तो जो भी क्रिया करता है उसमें रत नहीं होता, वह आस्रव रूप क्रिया को मोक्ष का कारण जानता ही नहीं, वह समझता है पाप पुण्य रूप आस्रव दोनों ही बंध के कारण हैं, संसार में रुलाने वाले हैं, इसी लिये निन्द्य हैं। जो मुमुक्षु हैं वे आस्रव को संसार भ्रमण का कारण जान इनको त्यागते हैं।

निश्चय नय से आत्मा में न राग है, न द्वेष है, न मोह कोई भी आस्रव का भाव आत्मा में नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभाव इन सब से सर्वथा भिन्न है। आत्मा में न मिथ्यात्व है, न अविरति भाव है, आत्मा के न योग हैं और न कषाय और नो कषाय हैं। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा यह सर्व विभाव भाव इस जीव के नहीं हैं, पुद्गल द्रव्यकृत विकार हैं इस प्रकार भेद विज्ञानी आत्मा इन सर्व आस्रव के कारण भावों को अपने से भिन्न अनुभव कर अपने शुद्ध स्वरूप में तन्मय होने का प्रयत्न करता है।

दोहा—आस्रव पंच प्रकार कूं, चिंतवैं तजें विकार।
तेपावें निज रूप कूं, यहै भावना सार॥
(जयचन्द)

छन्द—जो जोगन की चपलाई। तातैं ह्वै आस्रव भाई॥
आस्रव दुखकार घनेरे। बुध वंत तिन्हें निरवेरे॥
(दौलतराम)

सोरठा—मोहनींद के जोर, जगवासी घूमें सदा।
कर्म चोर चहु ओर, सरवस लूटें सुध नहीं॥

॥ गीता ॥

नहीं सुख या जीव को यह कर्म आस्रव नित करे।
मन वचन तन के योग तैं नित शुभ अशुभ कर्महि वरे॥
तिन करम के बंधन भये तिन उदय तैं सुख दुख लहो।
तातें मिथ्यात प्रमाद आदिक तजहु जातें शिव गहो॥
(भूधर दास)

९

संवर भावना

चलमलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहिं णिदिट्ठं॥
चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढकपाटेन।
मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधः भवतिइति जिनैः निर्दिष्टम्॥

अर्थ—चल, मल, अगाढ इन तीनों दोषोंरहित सम्यक्त्व के दृढ

कपाट मिथ्यात्व रूप आस्रव के द्वार को बन्द कर देते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। अर्थात् जब सम्यक् दर्शन हो जाता है, तो मिथ्यात्व जाता रहता है।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहिय पलगेइ॥
पंचमहाव्रतमनसा अविरमणनिरोधनं भवति नियमात्।
क्रोधादि आस्रवाणां द्वाराणि कषायरहितः प्रलगयति॥

अर्थ—अहिंसादि पंच महाव्रत रूप परिणामों द्वारा हिंसादि पंच आस्रवों का आगमन निश्चयपूर्वक रोक दिया जाता है। क्रोधादि कषाय रहित परिणामों के द्वारा क्रोधादि आस्रवों का द्वार रोक दिया जाता है। अर्थात् पंच महाव्रत के पालन करने से पंच पापों का संवर हो जाता है; और क्रोधादि कषायों का निरोध करने से कषाय संवर हो जाता है।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि॥
शुभयोगेषु प्रवृत्तिः संवरणं करोति अशुभयोगस्य।
शुभयोगस्य निरोधः शुद्धोपयोगेन सम्भवति॥

अर्थ—मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति से अशुभ योगों के द्वारा होने वाला कर्म आस्रव रुक जाता है और जब शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति होती है तो शुभ योगों का भी निरोध हो जाता है अर्थात् पूर्ण संवर हो जाता है।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ॥
शुद्धोपयोगेन पुनः धर्मं शुक्लं च भवति जीवस्य ।
तस्मात् संवरहेतुः ध्यानमिति विचिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—शुद्धोपयोग से ही इस जीव के धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान होता है, इसलिये संवर का कारण ध्यान है ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिये ।

जीवस्स ण संवरणं परमत्थणयेण सुद्धभावादो ।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं ॥
जीवस्य न संवरणं परमार्थनयेन शुद्धभावात् ।
संवरभावविमुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—निश्चय नय से जीव में संवर नहीं है, इसलिए निरंतर आत्मा को शुद्ध भावपूर्वक संवर के विकल्प रहित चिन्तवन करना चाहिये ।

जिन भावों से कर्म बंधते हैं उनके विरोधी भावों से कर्म रुकते हैं । आस्रव का विरोधी ही संवर है । मिथ्यात्व के द्वारा आते हुये कर्मों को रोकने के लिये सम्यक् दर्शन को प्राप्त करना चाहिये, निर्मल सम्यक्-दर्शन चल, मल, अगाढ़ इन दूषणों से रहित होता है । अविरति के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतों का अभ्यास करना चाहिये । प्रमाद को रोकने के लिये चारों विकथाओं को त्याग उपयोगी धार्मिक तथा परोपकारमय कार्यों को करने के लिये दत्तचित्त रहना चाहिये । कषायों को जीतने के

लिये आत्मानुभव, शास्त्रों का पठन पाठन व मनन, तत्वविचार; क्षमाभाव, मार्दव भाव, आर्जव भाव तथा संतोष भाव का अभ्यास करना चाहिये। मन वचन काय इन तीनों योगों को जीतने के लिये इन तीनों योगो को थिर करके आत्म ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

जो अपना वास्तविक हित करना चाहता है, उस को सदैव ही अपने परिणामों की सभाल और परीक्षा करनी चाहिये। जीवों के तीन प्रकार के भाव होते हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इन में से अशुभोपयोग से पाप कर्मों का और शुभोपयोग से पुण्य कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है, परन्तु शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय होता है। विवेकी पुरुषों को उचित्त है कि अशुभोपयोग को त्याग शुभोपयोग में प्रवृत्ति करें और फिर शुभोपयोग को भी छोड शुद्धोपयोग को लाने का प्रयत्न करें, शुद्धोपयोग से ही इस जीव के धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान होता है। एक ज्ञानी को सदा ही जागृत और पुरुषार्थी रहना चाहिये, जैसे साहूकार अपने घर में चोरों का प्रवेश नहीं चाहता, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है, वैसे ही एक ज्ञानी को भी अपने आत्मा के गुण रूपी सम्पत्ति की रक्षा बधकारक भावों से करते रहनी चाहिये। पाप रूप प्रवृत्ति को छोडना चाहिये, मिथ्यात्व का अभाव करना चाहिये, जो २ अशुभ भाव अपने मे आते हों उनका त्याग करता चला जावे उनके त्याग से पाप का आस्रव रुक जाता है। प्रतिज्ञा और नियम का करना अशुभ भावों से अपने को बचाने का एक बडा भारी उपाय है।

सिद्धान्त में सवर के साधन व्रत, समिति, गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय चारित्र तथा तप को बताया गया है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पंच पापों के त्यागरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, तथा परिग्रह त्याग ये पांच व्रत हैं।

गृहस्थी इनका पालन एकोदेश करते हैं साधु इन का पालन पूर्ण रूप से किया करते हैं।

पांच समिति—इन पंच महाव्रतों की रक्षा के हेतु पंच समिति का पालन साधु महाराज किया करते है। प्रमाद रहित प्रवृत्ति को समिति कहते हैं—ये पांच है—

(१) ईर्या समिति—जीव जन्तु रहित प्राशुक तथा रौंदी हुई भूमि पर दिन के समय चार हाथ प्रमाण आगे देख कर चलना।

(२) भाषा समिति—हित मित वचन बोलना।

(३) एषणा समिति—शुद्ध भोजन भिक्षावृत्ति से शास्त्रोक्त मर्यादानुसार विधि पूर्वक लेना।

(४) आदान निक्षेपण समिति—किसी भी वस्तु को देख भाल कर उठाना और रखना।

(५) प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति—मल मूत्र आदि को देख भाल कर शुद्ध, प्रासुक निर्जन्तु भूमि पर डालना।

तीन गुप्ति—मनो गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

मनो गुप्ति—मन को वश में करके धर्मध्यान में लगाना।

वचन गुप्ति—मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना।

काय गुप्ति—एकासन से बैठना, ध्यान स्वाध्याय में काय को लगाना।

इस प्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियें मिलाकर यह कुल तेरह प्रकार का चारित्र साधु का होता है।

दश धर्म—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

बारह भावना—अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, अशुचिलोक, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म भावना और बोधि-दुर्लभ भावना।

बाईस परीषह जय—नीचे लिखी बाईस परीषहो के पड़ने पर उनको शान्ति पूर्वक समता भाव के साथ सहन करना—

(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंश मशक—डांस, मच्छर, मक्खी आदि की बाधा (६) नग्नता (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या-चलने की (१०) निषद्या-बैठने की (११) शय्या (१२) आक्रोश गाली आदि (१३) वध (१४) याचना—मांगने के अवसर पर भी न मांगना (१५) अलाभ—भोजन अंतराय पर संतोष (१६) रोग (१७) तृण स्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार पुरस्कार—आदर निरादर (२०) प्रज्ञा—ज्ञान का मद न करना (२१) अज्ञान—अज्ञान पर खेद न करना (२२) अदर्शन, श्रद्धा न बिगाड़ना।

चारित्र पंच प्रकार—(१) सामायिक—समभाव रखना। (२) छेदोपस्थापना—सामायिक से गिरने पर फिर सामायिक में स्थिर होना। (३) परिहार विशुद्धि—ऐसा आचरण जिसमे हिंसा का विशेष त्याग हो। (४) सूक्ष्म सांपराय—दसवें गुणस्थानवर्ती साधु का चारित्र, जहां मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है। (५) यथाख्यात—पूर्ण वीतराग चारित्र।

तात्पर्य यह है कि जितना २ शुद्ध आत्मीक भाव का मनन व अनुभव बढ़ता जाता है उतना २ ही नवीन कर्मों का संवर और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता चला जाता है।

परम शुद्ध निश्चय नय से आत्मा मे कोई संवर भाव नहीं है। ज्ञानी भेद विज्ञान द्वारा आत्मा को सर्व रागादि पर भावो से भिन्न अनुभव करता है, अपनी आत्मा को संवर के विकल्प रहित शुद्ध भाव पूर्वक निरंतर ही चिन्तवन किया करता है। इस प्रकार संवर के कारणों को विचार जो ज्ञानी आत्मा अपने निज स्वरूप में लीन रहता है, राग द्वेष नहीं करता है उसके संवर होता है।

दोहा—गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीषह सार।
चारित धारैं संग तज, सो मुनि संवर धार ॥
(जयचन्द्र)

छन्द—जिन पुण्य पाप नहीं कीना। आतम अनुभव चित दीना ॥
तिन ही विधि आवत रोके। संवर लहि सुख अवलोके ॥
(दौलतराम)

सोरठा—सतगुरु देहि जगाय, मोह नींद जब उपशमैं।
तब कछु बनहि उपाय, कर्म चोर आवत रुकैं ॥

॥ गीता ॥

रुके तब ही कर्म आस्रव किये संवर चाव सों।
अरु महाव्रत पन समिति गुप्ति तीन दश वृष भाव सो ॥
परिषह सहन अरु भावना चित चितये नित ही सही।
जातैं जु होवे कर्म संवर यही जिन धुनि में कही ॥
(भूधर दास)

निर्जरा भावना

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्तं ।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे ॥
बन्धप्रदेशगलनं निर्जरणं इति जिनैः प्रज्ञप्तम् ।
येन भवति संवरणं तेन तु निर्जरणमिति जानीहि ॥

अर्थ—कर्म बन्ध को प्राप्त पुद्गल वर्गणा रूप प्रदेशों का गलन निर्जरा है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जिन परिणामों से संवर होता है, उन्हीं से कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा जानो।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा ।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया ॥
सा पुनः द्विविधा ज्ञेया स्वकालपक्वा तपसा क्रियमाणा ।
चातुर्गतिकानाम् प्रथमा व्रतयुक्तानाम् भवति द्वितीया ॥

अर्थ—ये निर्जरा दो प्रकार की है। एक तो कर्मों का अपनी स्थिति पूर्ण होने के पश्चात् झडना, दूसरे स्थिति पूर्ण होने से पहले ही तपश्चरण द्वारा कर्मों को नष्ट करना। इन में से पहली निर्जरा चारों गतियों में सर्व ही जीवों के होती है, दूसरी निर्जरा व्रतियों के अर्थात् सम्यक दृष्टि श्रावक तथा मुनियों के होती है। पहली निर्जरा को सविपाक और दूसरी को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

किसी कर्म के नष्ट होने का नाम निर्जरा है, जब किसी कर्म का फल हो चुकता है तो वह कर्म झड़ जाता है अर्थात् दूर हो जाता है। इस प्रकार फल देकर कर्म का झड़ जाना सविपाक निर्जरा है, और तप करके समय से पहले ही किसी कर्म को नष्ट कर देना अविपाक निर्जरा है।

(१) सविपाक निर्जरा—जब कर्म बंधते हैं उस के पीछे कुछ समय उनके पकने में लगता है, उस पकने के काल को अबाधा काल कहते हैं। एक कोड़ा कोडी सागर की स्थिति के लिये सौ वर्ष का अबाधा काल है, तब एक सागर की स्थिति के लिये बहुत ही अल्प एक उच्छ्वास मात्र होगा—अबाधा काल के समाप्त होने के पीछे जितनी स्थिति जिस कर्म में शेष होती है, उतनी स्थिति के समयों में उस कर्म की वर्गणायें बट जाती हैं। बटवारा इस तरह होता है कि पहले अधिक संख्या होती है फिर क्रमशः कम होती जाती है। अन्त में सब से कम वर्गणायें रह जाती हैं।

इस बटवारे के अनुसार ये कर्म वर्गणायें समय २ गिर पड़ती हैं, इसी को सविपाक निर्जरा कहते हैं। यदि बाहरी निमित्त अनुकूल होता है, तो फल प्रगट कर ये वर्गणायें झड़ जाती हैं। यदि निमित्त अनुकूल नहीं होता तो विना फल दिये ही झड़ जाती हैं। यह निर्जरा सब ही संसारी प्राणियों के पाई जाती हैं।

(२) अविपाक निर्जरा—वीतराग शुद्ध भावों के द्वारा कर्मों को उन के विपाक समय से या नियत पतन समय से पहले ही दूर कर दिया जाता है, इस को विपाक निर्जरा कहते हैं, इस का मुख्य कारण आत्मा का शुद्ध वीतराग भाव है, यह भाव शुद्ध आत्मीक ध्यान से प्राप्त होता है इस निर्जरा के लिये बारह प्रकार तप का अभ्यास आवश्यक है, उसमें मुख्य तप ध्यान है। १२ तप ये हैं:—

(१) अनशन—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय, चार प्रकार के आहार का

त्याग कर दिन रात धर्म ध्यान में समय व्यतीत करना।

(२) अवमोदर्य—पूरा भर पेट भोजन न करके यथा संभव कम भोजन करना।

(३) वृत्ति परिसंख्यान—भिक्षा के लिये जाते समय इस प्रकार की कोई कडी प्रतिज्ञा करना कि अमुक प्रकार का आहार मिलेगा, अमुक मुहल्ले मे मिलेगा या अमुक रीति से मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं। यदि योग्य भिक्षा विधि न बने तो वापस वन में जाकर समता भाव के साथ उपवास आदि करना। इस तप के करने से आशा तृष्णा का नाश होता है।

(४) रसपरित्याग—दूध, दही, घी, मीठा, लवण, तैल, इन छह रसों में से एक या अधिक का त्याग कर देना। इन्द्रिय दमन, आलस्य परिहार तथा स्वाध्याय में आनंद प्राप्ति के अर्थ यह तप जरूरी है।

(५) विविक्त शय्यासन—जीवों की रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्र में, ब्रह्मचर्य पालन तथा स्वाध्याय, ध्यानाध्ययनादिक क्रियाओं को निर्विघ्नतापूर्वक करने के लिये पर्वत गुफा, वस्तिका, श्मशान भूमि, वन खण्डहर आदि एकान्त स्थानों में सोने बैठने का नाम विविक्त शय्यासन है।

(६) कायक्लेश—शरीर का सुखियापना मिटाने के लिये कठिन स्थानो में बैठकर या खडे होकर ध्यान लगाना—जैसे कभी धूप आतापन योग धारण करना।

(७) प्रायश्चित्त—अपने व्रतों में कोई अतिचार होने पर उसका दण्ड लेकर अपने को शुद्ध करना।

(८) विनय—सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप इन चारों का और इनके धारण करने वालों का आदर करना।

(९) वैय्या वृत्य—पूज्य पुरुषों की भक्ति पूर्वक सेवा, चाकरी तथा टहल करना।

(१०) स्वाध्याय—शास्त्रों को पढ़ना, विचारना, मनन करना, कण्ठस्थ करना और धर्मोपदेश देना।

(११) व्युत्सर्ग—शरीर से और संसारिक भोगों से तथा पदार्थों से विशेष ममत्व का त्यागना।

(१२) ध्यान—समस्त चिन्ताओं का निरोध करके धर्म में या आत्म चिन्तवन में एकाग्र होने का नाम ध्यान है।

इन बारह व्रतों का पालन करते हुवे जितने अंश वीतराग भाव होंगे उतने अंश कर्मों का क्षय होगा। वीतराग भावों की प्रबलता से कभी २ अनेक जन्मों के बांधे हुवे पाप कर्म क्षण मात्र में क्षय हो जाते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में फर्माते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुँचदि जीवो विराग सम्पण्णो।
एसो जिणो वदेसो तम्हा कम्मेसु मारज्ज॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मों को बांधता है, वीतरागी जीव कर्मों से छूट जाता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र प्रभु ने कहा है। इस लिये शुभ व अशुभ कर्मों से राग द्वेष मत करो, समभाव से लो। जब कर्म अपना फल देते हैं उस समय यदि उस फल को समता भाव पूर्वक भोग लिया जाता है तो वे कर्म क्षय हो जाते हैं और नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होगा, यदि होगा तो बहुत कम। यदि कर्मों के फल भोगते समय हर्ष विषाद होता है, या राग द्वेष रूप परिणाम होते हैं तो कर्मों का नवीन बन्ध भी बहुत होता है।

इस लिये मन और इन्द्रियों को जीत कर जो अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होते हैं, उनका मनुष्य जन्म पाना सफल होता है, उसही के पाप कर्म की बड़ी निर्जरा होती है, संसार को छेदने वाले सातिशय पुण्य का बन्ध होता है और उसी को परम अतीन्द्रिय अविनाशी अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

जो कोई भी इन्द्रियों और कषायों को महा दुख रूप जान कर जीतते हैं और समभाव रूप सुख में लीन हो बार बार अपने स्वरूप की उज्वलता को स्मरण करते हैं तथा उसमें तल्लीन होते हैं उनके महा निर्जरा होती है।

दोहा—पूरव बांधे करम जे, झरै तपोबल जाय।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव जाय॥
(जयचन्द्र)

छन्द—निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तपकरि जो कर्म खिपावै, सोई शिव सुख दरसावै॥
(दौलतराम)

दोहा—ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसै नहिं, पैठे पूरव चोर॥

॥ गीता ॥

पैठे पूरव चोर कर्म सब रहें देह घर मांही।
बारह विधि तप अग्नि जलाये कर्म चोर जल जांहीं॥
उदय भोग सविपाक निर्जरा पके आम तरु डाली।
तपसो है अविपाक पकावे पाल विषै -जिम माली॥

॥ दोहा ॥

पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इन्द्री विजय, धार निर्जरा सार॥

धार निर्जरा सार सार सवर पूर्वक जो होहै।
वही निर्जरा सार कही अविपाक निर्जरा सोहै॥
उदय भये फल देय निर्जरै सो सविपाक कहावै।
तासों जिय का काज न सरिहै सो सब व्यर्थ हि जावै॥
(भूधर दास)

११

धर्म भावना

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥
एकादशदशभेदो धर्मो सम्यक्त्वपूर्वको भणितं।
सागारनगारयोः उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः ॥

अर्थ—उत्तम सुख अर्थात् आत्मीक सुख में लीन जिनेन्द्र भगवान् ने श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमा रूप और मुनि का धर्म दश लक्षण रूप सम्यक् दर्शन पूर्वक कहा है।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे ॥
दर्शनव्रतसामायिकपौषधसचित्तरात्रिभक्ताः च।
ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टा देशविरतस्यैते ॥

अर्थ—देश विरत नाम पांचवें गुण स्थान में श्रावक के चारित्र सम्बन्धी ग्यारह प्रतिमायें या श्रेणियां इस प्रकार हैं:—

दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित त्याग, रात्रि भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा॥

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चमउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचरहं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥
उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च संयमः चैव ।
तपस्त्यागः आकिञ्चन्यं ब्रह्म इति दशविधं भवति ॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य, ये दश भेद मुनि धर्म के हैं।

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ।
ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥
क्रोधोत्पत्तेः पुनः बहिरङ्गं यदि भवेत् साक्षात् ।
न करोति किञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति ॥

अर्थ—क्रोध के उत्पन्न करने वाले बाह्य कारणों के मौजूद होते हुवे भी, जो कोई किंचित् मात्र भी क्रोध नहीं करता है, उसी के उत्तम क्षमा धर्म होता है।

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥
कुलरूपजातिबुद्धिषु तपः श्रुतशीलेषु गौरवं किञ्चित् ।
यः नैव करोति श्रमणो मार्दवधर्मो भवति तस्य ॥

अर्थ—जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र, ज्ञानशील आदि का किंचित् मात्र भी घमंड नहीं करता है उसके मार्दव धर्म होता है।

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण॥
मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरित यः श्रमणः।
आर्जवधर्मः तृतीयः तस्य तु संभवति नियमेन॥

अर्थ—जो श्रमण कुटिल भाव अर्थात् मायाचारी त्याग निर्मल हृदय से चारित्र को पालन करता है, उसी के निश्चय से तीसरा आर्जव धर्म संभव होता है।

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥
परसंतापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम्।
यः वदति भिक्षुः तुरीयः तस्य तु धर्मः भवति सत्यम्॥

अर्थ—जो भिक्षु पर को संतापित करने वाले बचनों को त्याग कर स्व पर हित रूप वचन कहता है, उसी के चौथा "सत्य धर्म" होता है।

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥
कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः।
यः वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवति शौचम्॥

अर्थ—जो परम मुनि कांक्षा भाव अर्थात् इच्छाओं को छोड, वैराग्य भावना संयुक्त होता है, उसके शौच धर्म होता है। लोभ कषाय को त्याग उदासीनता रूप परिणामों का रखना शौच धर्म कहलाता है।

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्य पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥
व्रतसमितिपालने दण्डत्यागे इन्द्रियजये ॥
परिणममानस्य पुनः संयमधर्मः भवति नियमात् ॥

अर्थ—जिस मुनि के व्रत समिति का पालन होता है, मन, वचन, काय इन तीनों योगों का निरोध होता है और पंच इन्द्रिय विजय होता है, उसके ही नियम से सयम धर्म होता है ।

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥
विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन ।
यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥

अर्थ—जो कोई पांचों इन्द्रियों के विषयों तथा क्रोधादि चारों कषाओं को ध्यान और स्वाध्याय के बल से निग्रह करके अपनी आत्मा का चिन्तवन करता है उसके निश्चय से तप होता है ।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥
निर्वेदत्रिकं भावयति मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
यः तस्य भवति त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥

अर्थ—जो कोई सर्व पर द्रव्यों से ममत्व भाव को हटा कर संसार, देह और भोगों से, मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक, उदासीन परिणामी रहता है, उसके त्याग धर्म होता है । ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है ।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सऽकिंचरणहं ॥
भूत्वा च निस्सङ्गः निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥

अर्थ—जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रह से निःसंग हो; सुख दुख-दायक कर्म जनित निज परिणामों का निग्रह कर, निर्द्वन्दता पूर्वक समता-भाव में लीन होता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है ।

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥
सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।
स ब्रह्मचर्यभावं सुकृति खलु दुर्द्धरं धरति ॥

अर्थ—जो पवित्रात्मा स्त्रियों के सर्वांगों को देख कर अपने परि-णामों को विकृत नहीं होने देता, निश्चय से उसके दुद्धर ब्रह्मचर्य धर्म होता है ।

सावयधम्मं चत्ता जदि धम्मे जो हु वट्टये जीवो ।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं ॥
श्रावकधर्म त्यक्त्वा यतिधर्मे यः हि वर्तते जीवः ।
सः न च वर्ज्जति मोत्तं धर्म्ममिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—जो जीव श्रावक धर्म को त्याग मुनि धर्म को वास्तव में अङ्गीकार करता है, उसको मोक्ष प्राप्त हुवे बिना नहीं रहता अर्थात् उसको

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्य पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥
व्रतसमितिपालने दण्डत्यागे इन्द्रियजये ॥
परिणममानस्य पुनः संयमधर्मः भवति नियमात् ॥

अर्थ—जिस मुनि के व्रत समिति का पालन होता है, मन, बचन, काय इन तीनों योगों का निरोध होता है और पच इन्द्रिय विजय होता है, उसके ही नियम से संयम धर्म होता है ।

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥
विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन ।
यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥

अर्थ—जो कोई पांचों इन्द्रियों के विषयों तथा क्रोधादि चारों कषाओं को ध्यान और स्वाध्याय के बल से निग्रह करके अपनी आत्मा का चिन्तवन करता है उसके निश्चय से तप होता है ।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥
निर्वेदत्रिकं भावयति मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
यः तस्य भवति त्यागः इति भणितं जिनवरैन्द्रैः ॥

अर्थ—जो कोई सर्व पर द्रव्यों से ममत्व भाव को हटा कर संसार, देह और भोगो से, मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक, उदासीन परिणामी रहता है, उसके त्याग धर्म होता है । ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है ।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सऽकिंचणहं ॥
भूत्वा च निस्सङ्गः निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥

अर्थ—जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रह से निःसंग हो; सुख दुख-दायक कर्म जनित निज परिणामो का निग्रह कर, निर्द्वन्दता पूर्वक समता-भाव में लीन होता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है ।

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥
सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।
स ब्रह्मचर्यभावं सुकृति खलु दुर्द्धरं धरति ॥

अर्थ—जो पवित्रात्मा स्त्रियों के सर्वांगों को देख कर अपने परिणामो को विकृत नहीं होने देता, निश्चय से उसके दुद्धर ब्रह्मचर्य धर्म होता है ।

सावयधम्मं चत्ता जदि धम्मे जो हु वट्टये जीवो ।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं ॥
श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे यः हि वर्तते जीवः ।
सः न च वर्ज्जति मोक्षं धर्म्ममिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥

अर्थ—जो जीव श्रावक धर्म को त्याग मुनि धर्म को वास्तव मे अङ्गीकार करता है, उसको मोक्ष प्राप्त हुवे बिना नहीं रहता अर्थात् उसको

अवश्य ही मोक्ष पद की प्राप्ति हुवा करती है। इस प्रकार सदैव ही धर्म भावना का चिन्तवन करना चाहिये।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं॥
निश्चयनयेन जीवः सागारनगारधर्मतः भिन्नः।
मध्यस्थभावनाया शुद्धात्मानं चिन्तयेत् नित्यम्॥

अर्थ—निश्चय नय से जीव श्रावक धर्म तथा मुनि धर्म से भिन्न है। राग द्वेष रहित माध्यस्थ भावों के साथ शुद्धात्मा समयसार ही का सदैव ध्यान करना चाहिये।

धर्म भावना का चिन्तवन करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि धर्म कहते किसे हैं, क्योंकि जिस वस्तु का चिन्तवन करने के लिये हम उत्सुक हैं, जब तक उस का यथार्थ स्वरूप हमारी समझ में न आ जावे, उसका चिन्तवन कैसे हो सकता है? (धर्म शब्द का अर्थ है कि जो संसारी जीव को चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण रूप दुःख से छुडा कर उत्तम, आत्मीक, अविनाशी अतीन्द्रिय मोक्ष सुख मे धारण करे सो धर्म है)। यह धर्म किसी स्थान पर बिकता नहीं जो मोल ले आवे, किसी की खुशामद चापलूसी करने से मिल सकता नहीं, किसी के बखशिश करने से मिलता नहीं, किसी को सेवा उपासना द्वारा मना कर राजी करके लिया जा सकता नहीं, यह धर्म किसी मन्दिर, मसजिद, शिवालय गिरजा मे, कहीं पर्वत, जल, अग्नि, देव मूर्ति, तीर्थादिक में नहीं रखा है जो वहां जाकर कोई उठा लावे। केवल व्रत उपवास, कायक्लेश आदि तपश्चरण द्वारा शरीरादि को क्षीण करने से भी इस की प्राप्ति नहीं हो सकती, भगवान के मन्दिर में, चैत्यालय में केवल चंवर, छत्रादि उपकरणों के दे देने

मात्र से, बड़े २ मंडल पूजन विधान आदि करा देने मात्र से, ग्रहस्थत्याग वन में, श्मशान में, पर्वतादि की गुफाओं में तथा खण्डहरों में निवास करने तथा परमेश्वर के नाम रट लेने मात्र से इस समीचीन धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो आत्मा का निज स्वभाव है। जो पर पदार्थों में आत्मबुद्धि को त्याग अपने ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव तथा निज ज्ञायक स्वभाव मे ही प्रवर्तन रूप जो आचरण सो धर्म है। जिस समय आत्मा स्वयम् उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म रूप परिणमन करता है, तथा जिस समय आत्मा की निज परणति रत्नत्रय रूप होती है, तथा परम दया रूप होती है, उस समय आत्मा स्वयम् धर्म रूप होता है। परद्रव्य, क्षेत्र, कालादिक तो केवल निमित्त मात्र हैं। जिस समय यह आत्मा रागादि विभाव परणति को त्याग आत्मस्थ तथा वीतराग रूप हुवा देखता है, तो मंदिर, प्रतिमा तीर्थ, दान, जप तप आदि समस्त स्थान तथा क्रियायें धर्म रूप होती हैं, परन्तु यदि निज आत्मा ही निज स्वरूप में स्थित न होकर इधर उधर डोलता फिरता है और अपना आत्मा दशलक्षण धर्म रूप, रत्नत्रय धर्म रूप वीतराग रूप तथा सम्यक् ज्ञान रूप नहीं होता है, तो तीर्थ मंदिरादि स्थानों में और पूजन जप तप आदि क्रियाओं में कहीं भी धर्म नहीं होता। शुभ राग पुण्य बन्ध का कारण है और अशुभ राग द्वेष मोह आदि पाप बंध के कारण हैं, परन्तु जहां सम्यक् दर्शन, ज्ञानस्वरूपाचरण रूप धर्म है, वहां बंध का अभाव होता है और बंध का अभाव होने पर ही इस जीव को उत्तम, अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचन सार में फर्माते हैं:—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो समोत्तिणिदिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥

अर्थात निश्चय से चारित्र ही धर्म है, जो समभाव है, उसी को धर्म कहा गया है। मोह, क्षोभ या रागद्वेष रहित जो आत्मा का परिणाम है वही समभाव है, वही चारित्र है, मोक्ष पाहुड में भी आप फर्माते हैं—

चरणं हवइं सधम्मो सो हवइ अप्प सम भावो।
सो राग रोस रहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो।

अर्थात् आत्मा का धर्म सम्यक् चारित्र है, वह धर्म आत्मा का समभाव है, वही रागद्वेष रहित आत्मा का अपना ही एकाग्र परिणाम है। आत्मस्थ् भाव ही समभाव है व वही चारित्र है। ऐसे ही सम्यक् चारित्र के धारावाही अभ्यास से मोह कर्म दग्ध हो जाता है, फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म जल जाते हैं, अनत वल, अनंत सुख का प्रकाश हो जाता है, अनंत दर्शन व अनंत ज्ञान झलक जाता है, आत्मा परमात्मा हो जाता है। सम्यक् चारित्र ही जीव को संसारी से सिद्ध अवस्था मे वदल देता है। इसी दृष्टि से आचार्यवर ने धर्म के दो भेद वताये हैं, सकल चारित्र रूप मुनि धर्म और विकल चारित्र रूप ग्रहस्थ धर्म भगवान सर्वज्ञ देव ने इस ग्रहस्थ धर्म अर्थात् श्रावक धर्म के ग्यारह दर्जे (प्रतिमायें) वताये हैं।

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषधोपवास, (५) सचित त्याग, (६) रात्रि भोजन त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ त्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमति त्याग, (११) उद्दिष्ट आहार त्याग।

श्रावको के चारित्र को इन ग्यारह प्रतिमाओं में वांट दिया गया है, जिस से एक श्रावक धीरे २ उन्नति करते हुवे मुनि पद की योग्यता प्राप्त कर सके, इन में पहली पहली प्रतिमा का आचरण पालते रहकर आगे का आचरण और वढा लिया जाता है।

१. दर्शन प्रतिमा—संसार, शरीर तथा इन्द्रिय विषय भोगों से विरक्त, निरातिचार शुद्ध सम्यक् दर्शन का धारक, पंच परमेष्ठी की शरण में रहने वाला, सर्वज्ञ भाषित जीवादि तत्वों का श्रद्धान करने वाला तथा सत्यार्थ मार्ग को ग्रहण करने योग्य दार्शनिक श्रावक पहली दर्शन प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

दो०—आठ मूल गुण संग हैं, कुविसन क्रिया न कोय।
दर्शन गुण निर्मल करे, दर्शन प्रतिमा सोय॥

२. व्रत प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक पहली प्रतिमा के नियमो का पालन करते हुवे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, परिग्रह प्रमाण और ब्रह्मचर्य इन पंच अणुव्रतो को और इनके सहायक दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थ दंडविरति इन तीन गुण व्रतो को और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथि संविभाग इन चार शिक्षा व्रतों को निरतिचार, माया, मिथ्या और निदान इन तीनो शल्यो रहित पालन करता है।

दोहा—पंच अणुव्रत आदरै, तीनो गुण व्रत पाल।
शिक्षा व्रत चारों धरै, यह व्रत प्रतिमा पाल॥

३. सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी पहली दोनो प्रतिमाओ के नियमों का पालन करते हुवे नियम पूर्वक प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल सामायिक करता है। सामायिक करने वाला चारो दिशाओं में तीन २ आवर्त्त करता है चारों दिशाओ में चार प्रमाण करता है, कार्योत्सर्ग सहित, वाह्याभ्यतर परिग्रह की चिन्ता रहित, पद्मासन अथवा खड्गासन में तिष्टता, मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक सामायिक करता है। उपसर्ग आजाने पर भी प्रतिज्ञा से नहीं टलता—सामायिक में

कम से कम समय अन्तर मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट अवश्य लगाने चाहियें।

दोहा—हर्ष भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तज ममता समता गहे अन्तर मुहूर्त एक ॥

चौपाई—जे अरि मित्र समान विचारै, आरति रौद्र ध्यान निरवारैं।
संयम सहित भावना भावै, सो सामायिकवंत कहावैं ॥

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक नीचे वाली तीनों प्रतिमाओं के नियमों को पालता हुवा प्रत्येक महीने में दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी को अपनी शक्त्यानुसार, एकाग्रता पूर्वक शुभ ध्यान में लीन हुवा नियम पूर्वक प्रोषधोपवास करता है।

दोहा—सामायिक कीसी दशा, चार पहर लों होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय ॥

५. सचित्त त्याग प्रतिमा—नीचे वाली प्रतिमाओं के नियमों को पालते हुवे, इस प्रतिमा का धारी श्रावक सचित्त पदार्थों को नहीं खाता पीता। कच्चा पानी, कच्चा साग आदि ग्रहण नहीं करता। कन्द, मूल, फल, शाक, कोपल, जमीकंद, फूल, बीज आदि पदार्थों को कच्चे नहीं खाता। गरम या प्रासुक जल ही ग्रहण करता है। कृत कारित रूप से सचित्त का त्याग करता है।

दो०—जे सचित्त भोजन तजें, पीवें प्रासुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पच प्रतिज्ञा गीर ॥

६. रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा—नीचेवाली प्रतिमाओं के नियमों को रखते हुवे इस प्रतिमा का धारी दया परिणामों का धारक श्रावक रात्रि के समय अन्न का भोजन, जल, दूध, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ,

पेड़ा मोदक पाकादिक खाद्य पदार्थों को तथा औषधि आदि चार प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता। मन, वचन, काय से रात्रि भोजन को करने कराने से विरक्त रहता है।

किसी किसी स्थान पर इस प्रतिमा का नाम दिवस मैथुन त्याग भी कहा है।

चौ०—जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पाले। तिथि आये निसि दिवस संभाले ॥
गहि नौ वाडि करै व्रत रक्षा। सो षट प्रतिमा श्रावक अच्छा ॥

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा—नीचे की छहों प्रतिमाओं के नियमो का पालन करते हुवे इस प्रतिमा का धारी श्रावक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, स्त्री मात्र का त्याग कर देता है अपनी स्त्री का भी त्याग कर देता है और ब्रह्मचारी हो जाता है सादे वस्त्र पहनता है, सादा भोजन करता है, घर में एकान्त में रहता है, देशाटन भी कर सकता है। वैराग्य परिणामो में लीन रहता है। पूर्व में भोगे हुवे भोगों का चिन्तवन नहीं करता, कामोद्दीपन करने वाले पुष्टिकारक पदार्थों को नहीं खाता। स्वांग, थियेटर, सिनेमा आदिक विकृत परिणामों को उत्पन्न करने वाले तमाशे आदि नहीं देखता। काम विकार उत्पन्न करने वाले सब ही कारणों का दूर से ही त्याग कर देता है।

चौ०—जो नौ वाडि सहित विधि साधै। निसि दिन ब्रह्मचर्य आराधै ॥
सो सप्तम प्रतिमा धर ज्ञाता। शील शिरोमणि जग विख्याता ॥

८. आरंभ त्याग प्रतिमा—पहले नियमों का पालन करते हुवे सब ही लौकिक व्यवहार असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि का त्याग कर देता है; आरंभी हिंसा से विरक्त हो जाता है, देख भाल कर भूमि

पर चलता है, वाहनों का उपयोग नही करता है, निमंत्रण पाने पर भोजन करता है परम सतोषी हो जाता है। इस प्रतिमा के धारी के जिनेन्द्र के अभिषेक, पूजन, दान आदि करने का त्याग नहीं होता। जितना परिग्रह अपने पास होता है उसको यथायोग्य दुःखित भुखित जीवों के उपकार के लिये खरच करता है, अपने कुटुम्बियों की सहायतार्थ दे देता है, अपने शरीर के साधन औषधि भोजन वस्त्रादि के निमित्त खर्च कर सकता है।

दो०—जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ॥

९. परिग्रह त्याग प्रतिमा—पहली ८ प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुवे इस प्रतिमा का धारक धन धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह से ममत्व भाव को त्याग करके निर्ममत्वपने में लीन रहता है, शरीरादिक समस्त परपदार्थों में आत्मबुद्धि रहित होकर अपने अखंड, अविनाशी, ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव में स्थिर रहता है। कर्म संयोग से प्राप्त भोजन, वस्त्र, स्थान आदिक में संतोष कर दीनता रहित अधिक परिग्रह की आकांक्षाओं से निवृत्त होकर तिष्टता है और परिचित परिग्रह से अत्यन्त विरक्त रहता है। धन धान्य, रुपये पैसे आदि को बांट देता है, या दान कर देता है—थोडे से आवश्यक वस्त्र और खाने पीने के बर्तन रख लेता है। घर से बाहर उपवन या नसियां में रहता है।

चौ०—जो दश धा परिग्रह को त्यागी। सुख संतोष सहित वैरागी॥
समरस सञ्चित किञ्चित ग्राही। सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही॥

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा—नीचे की प्रतिमाओं के समस्त नियमों का पालन करते हुवे इस प्रतिमा का धारक श्रावक आरंभ में, परिग्रह में तथा विवाह मकान बनाना तथा वाणिज्य आदि लौकिक

कारोबार में किसी प्रकार की सलाह मशवरा नहीं देता है और रागादि रहित समबुद्धि रहता है।

दो०—पर को पापारम्भ को, जे न देइ उपदेश।
सो दसमी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत क्लेश॥

११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा—नीचे की प्रतिमाओं के सब ही नियमों का पालन करते हुए इस प्रतिमा का धारी श्रावक घर को त्याग, मुनीश्वरों के निवास करने योग्य बन में जाकर गुरु के समीप व्रतो को ग्रहण करता है, तपश्चरण करता हुवा केवल लंगोटी और खंड वस्त्र को धारण करता है, भिक्षा वृत्ति से भोजन करता है, जो भोजन गृहस्थी ने अपने तथा अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो उसी में से ग्रहण करता है, अपने लिये खास तौर से तय्यार किये हुवे भोजन को ग्रहण नहीं करता, उस में उद्दिष्ट आहार का दूषण आता है। इस प्रतिमा के दो भेद हैं—

(१) क्षुल्लक—जो एक खंड चादर व एक कोपीन या लंगोट रखते हैं। मोर पंख की पीछी और एक कमंडल रखते हैं। बालों को कतरवाते हैं, गृहस्थ के घर थाली में बैठ कर एक बार भोजन करते हैं।

(२) ऐलक—जो चादर भी छोड देते हैं, केवल एक लंगोटी ही रखते हैं, ये साधुवत् भिक्षार्थ जाते हैं, एक ही घर में बैठकर हाथ में ग्रास रक्खे जाने पर भोजन करते हैं, कमंडल काठ का ही रखते हैं—केश लोंच भी यह नियम से करते हैं।

चौ०—जो स्वछंद वर्तै तज डेरा। मठ मंडप में करे बसेरा॥
उचित आहार उदंड विहारी। सो एकादश प्रतिमा धारी॥

इस प्रकार इन ग्यारह श्रेणियो द्वारा उन्नति करते २ श्रावक व्यवहार चारित्रके आश्रय से निराकुलता को प्राप्त कर अधिकाधिक निश्चय चारित्र रूप स्वानुभव का अभ्यास करता है। पंचम गुणस्थान में अनन्तानुबंधी

५. परिग्रह त्याग महाव्रत—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह और धन धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह, इस प्रकार २४ प्रकार के परिग्रह का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना।

गुप्ति—भले प्रकार मन, वचन, काय योगों की यथेच्छा प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति तीन हैं—

मनोगुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना मनोयोग को रोकना।

वाग्गुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना वचन योग को रोकना।

काय गुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना काय योग को रोकना।

गुप्ति ही मुनि पद का मूल है, गुप्ति बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता और सम्यक् चारित्र बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।

समिति—सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समिति पांच होती हैं:—

(१) ईर्या समिति—परम अहिंसा धर्म के धारक जीवों की उत्पत्ति स्थानों को भलो भांति जानने वाले साधु सावधान होकर सूर्योदय के बाद जब हर एक चीज [illegible] में दिखाई देने लगे, और पृथ्वी, मनुष्य, हाथी, घोड़े, [illegible] से मर्दित होकर प्रासुक [illegible] तब आगे की [illegible] प्रकार देख कर [illegible] कर धीरे २ [illegible] का

(३) एषणा समिति—विधि पूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना । मुनिराज छियालीस दोषों तथा ३२ अन्तरायों को टाल कर कुलीन श्रावक के घर तपवृद्धि के हेतु दिन में एक बार आहार लेते हैं, शरीर को पुष्ट करने का उन का अभिप्राय नहीं होता ।

(४) आदान निक्षेपण समिति—शरीर, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणों को देख कर और पीछी से शोध कर यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना । मुनिराज के तो शरीर भी उपकरण की श्रेणी में आता

(५) व्युत्सर्ग समिति—नेत्रों से देख कर, यत्नाचार पूर्वक, प्रासुक जीव जन्तु रहित भूमि पर मल मूत्रादि को डालना, भूमि गीली न हो उस से हरे अंकुरे न फूट रहे हों । लोगों के आने जाने के मार्ग से दूर हो । ऐसे स्थान में मल मूत्र डालना ।

यह पांचों समिति मुनिव्रत का मूल हैं । मुनिराज अपने चारित्र की शुद्धि के हेतु इन का पालन निर्दोष किया करते हैं । श्रावकों को भी यथा शक्ति इन का पालन करना चाहिये । मुनिराज तो पूर्णतया पालन करते हैं, श्रावक एकोदेश कर सकते हैं ।

दशलक्षण धर्म

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं ।

१. उत्तम क्षमा—दुष्ट लोगों के द्वारा तिरस्कार, हास्य ताड़न मारण आदि क्रोध की उत्पत्ति के कारण मिलने पर भी, अपने में सामर्थ्य होते हुवे भी परिणामों में क्रोध कषाय रूप मलिनता न लाने को उत्तम क्षमा कहते हैं । क्रोध जीव का एक महान शत्रु है, इस क्रोध को जीतना

और अप्रत्याख्यान कषायो का उदय भी मंद हो जाता है, ग्यारवीं प्रतिमा में अति मंद हो जाता है। जितनी २ कषायें कम होती हैं, वीतराग भाव बढता है, उतना २ ही निश्चय सम्यक् चारित्र प्रगट होता जाता है, फिर प्रत्याख्यान कषाय के उदय को भी बिलकुल जीत कर साधु पद में परिग्रह का सर्वथा त्याग कर निर्ग्रन्थ होकर स्वानुभव का अभ्यास करते २ गुण-स्थान क्रम से अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो परम निरंजन सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

यदि मुनि पद को ग्रहण करने की शक्ति तथा योग्यता अपने में नहीं देखता है तो श्रावक के धर्म का ही पालन करता हुआ, मरणान्त समय में आराधना सहित होकर एकाग्र चित्त कर, पंच परमेष्टी का ही ध्यान करते हुवे सल्लेखना पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करता है और विशेष पुण्य बन्ध कर शुभगति को प्राप्त होता है। पहली प्रतिमा से छटी प्रतिमा तक पालन करने वाला जघन्य श्रावक कहलाता है, सातवीं आठवीं और नवीं प्रतिमा का धारी मध्यम श्रावक और दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है।

एक विवेकी ज्ञानी पुरुष को श्रावक की इन ग्यारह प्रतिमाओं का चिन्तवन ऐसे करना चाहिये कि आत्मीक उन्नति के लिये इस प्रतिमा रूप धर्म का पालन करना जरूरी है, इस से मुनि पद की शिक्षा मिलती है, मुनि पद धारण करने की योग्यता पैदा होती है। मुनि पद धारण किये बिना शुक्ल ध्यान नहीं और उसके बिना मुक्ति नहीं।

दो०—एकादश प्रतिमादशा, कही देशव्रत माहिं।
वही अनुक्रम मूल सों, गहो सो छूटै नाहिं॥
षट् प्रतिमा तांई जघन, मध्यम नौ पर्यन्त।
उत्तम दशमी ग्यारहमी, इति प्रतिमा विरतंत॥

मुनि धर्म—मुनि का चारित्र तेरह प्रकार का होता है–पंच महाव्रत, तीन गुप्ति और पंच समिति।

मुनिराज हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह इन पांचों पापों के पूर्ण त्यागी होते हैं, इन ही के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं। इन्हीं का पूर्ण त्याग साधु का चारित्र है, इन पांचों महाव्रतों को दृढ़ता के साथ पालन करने के लिये ही तीन गुप्ति और पंच समिति का पालन किया जाता है। इन पांचों पापो के सर्वथा त्याग करने को सकल चारित्र कहते हैं। इस चारित्र का यथार्थ पालन शुद्धोपयोग स्वरूप में आचरण करने वाले मुनिराज ही किया करते हैं। वास्तव में देखा जावे तो हिंसादिक पांचो पाप हिंसा में ही गर्भित हैं, क्योंकि यह सब आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घात का कारण हैं। अतएव ये सब हिंसा के ही भेद हैं जहां हिसा का सर्वथा त्याग होता है, वहां इनका भी त्याग हो जाता है।

१. अहिंसा महाव्रत—मन, वचन, काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से संकल्पी तथा आरंभी दोनों ही प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग करना या स्थावर जीवों की रक्षा करना, अपने परिणामो को सदैव अहिंसात्मक रखना और कषाय भावों से अपनी रक्षा करना।

२. सत्य महाव्रत—मन, वचन, काय से सर्वथा असत्य का त्याग करना। सदैव शास्त्रोक्त हित, मित, मिष्ट वचन ही बोलना।

३. अचौर्य महाव्रत—मन, वचन, काय से सर्वथा चोरी का त्याग करना; जल तथा मिट्टी भी विना दिये ग्रहण नहीं करना।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत—मन, वचन, काय से सर्वथा मैथुन का त्याग करना, विकार से अपने परिणामों की प्रत्येक समय रक्षा करना।

५. परिग्रह त्याग महाव्रत—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह और धन धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह, इस प्रकार २४ प्रकार के परिग्रह का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना।

गुप्ति—भले प्रकार मन, वचन, काय योगों की यथेच्छा प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति तीन हैं—

मनोगुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना मनोयोग को रोकना।

वाग्गुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना वचन योग को रोकना।

काय गुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की वांछा के बिना काय योग को रोकना।

गुप्ति ही मुनि पद का मूल है, गुप्ति बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता और सम्यक् चारित्र बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।

समिति—सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समिति पांच होती हैं:—

(१) ईर्या समिति—परम अहिंसा धर्म के धारक जीवों की उत्पत्ति स्थानों को भली भांति जानने वाले साधु सावधान होकर सूर्योदय के बाद जब हर एक चीज अच्छी तरह से दिखाई देने लगे, और पृथ्वी, मनुष्य, हाथी, घोडे, गाडी आदि के चलने फिरने से मर्दित होकर प्रासुक हो जावे, तब आगे की चार हाथ प्रमाण भूमि को भले प्रकार देख कर तथा शोध कर धीरे २ चलते हैं। इस प्रकार सावधानता पूर्वक चलने का नाम ईर्या समिति है।

(२) भाषा समिति—हित मित संदेह रहित वचनों का बोलना कर्कश, निष्ठुर, अप्रिय वचन नहीं कहना।

(३) एषणा समिति—विधि पूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना । मुनिराज छियालीस दोषों तथा ३२ अन्तरायों को टाल कर कुलीन श्रावक के घर तपवृद्धि के हेतु दिन में एक बार आहार लेते हैं, शरीर को पुष्ट करने का उन का अभिप्राय नहीं होता ।

(४) आदान निक्षेपण समिति—शरीर, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणों को देख कर और पीछी से शोध कर यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना ।

(५) व्युत्सर्ग समिति—नेत्रों से देख कर, यत्नाचार पूर्वक, प्रासुक जीव जन्तु रहित भूमि पर मल मूत्रादि को डालना, भूमि गीली न हो उस से हरे अंकुरे न फूट रहे हों । लोगों के आने जाने के मार्ग से दूर हो । ऐसे स्थान में मल मूत्र डालना ।

यह पांचों समिति मुनिव्रत का मूल हैं । मुनिराज अपने चारित्र की शुद्धि के हेतु इन का पालन निर्दोष किया करते हैं । श्रावकों को भी यथा शक्ति इन का पालन करना चाहिये । मुनिराज तो पूर्णतया पालन करते हैं, श्रावक एकोदेश कर सकते हैं ।

दशलक्षण धर्म

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं ।

१. उत्तम क्षमा—दुष्ट लोगों के द्वारा तिरस्कार, हास्य ताड़न मारण आदि क्रोध की उत्पत्ति के कारण मिलने पर भी, अपने में सामर्थ्य होते हुवे भी परिणामों में क्रोध कषाय रूप मलिनता न लाने को उत्तम क्षमा कहते हैं । क्रोध जीव का एक महान शत्रु है, इस क्रोध को जीतना

क्षमा है। क्रोध जीव के संतोषभाव, निराकुलता भाव आदि समस्त ही गुणों को दग्ध करने के लिये अग्नि के समान है, क्रोध जीव की बुद्धि को भ्रष्ट करके निर्दयी बना देता है। वास्तव में वही जीव पुण्यवान हैं, जिन के क्षमा गुण प्रगट होता है। जहां उत्तम क्षमा है, वहां रत्नत्रय धर्म है।

विद्वानों के लिये उत्तम क्षमा चिन्तामणि रत्न के समान है, जहां असमर्थ जीवों के दोष क्षमा किये जाते हैं, जहां असमर्थों के ऊपर क्रोध नहीं किया जाता, जहां आक्रोश वचनों को समता पूर्वक सहन किया जाता है, जहां दूसरों के दोष प्रगट नहीं किये जाते जहां चित्त में आत्मा का चैतन्य गुण स्मरण किया जाता है, वहां ही उत्तम क्षमा है। उत्तम क्षमा का धारण करने वाला जीव समस्त लोक में पूज्य होता है, परपराय से मोक्ष पद को प्राप्त होता है। इस लोक मे क्षमा परम शरण है, माता के समान रक्षा करने वाली है। जिन धर्म का मूल ही उत्तम क्षमा है। सब गुण इसी के आधार हैं। उत्तम क्षमा कर्म निर्जरा का कारण है, हजारों उपद्रवों को दूर करने वाली है। धन जाते, जीवितव्य जाते हुवे भी क्षमा को छोडना योग्य नहीं। ऐसा जान क्रोध कषाय को जीत, वैर भाव को त्याग समता भाव धारण करना ही विवेकी ज्ञानी पुरुषों के लिये योग्य है।

सोरठा—पीड़ें दुष्ट अनेक, बांध मार बहु विधि करे।
धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजे पीतमा॥

२. उत्तम मार्दव—कुल मद, जाति मद, रूप मद, ज्ञान मद, धन मद, बल मद, तप मद, प्रभुता मद इन आठ प्रकार के मद (नहीं) करने को मार्दव कहते हैं। मान कषाय का अभाव होने पर ही मार्दव नामा गुण आत्मा में प्रकाशमान होता है। मार्दव दया धर्म का मूल कारण है। जिसके हृदय

में मार्दव गुण होता है, वह सब जीवों का हितैषी होता है। मार्दव गुण सहित जीवों का ही व्रत पालन करना, संयम पालन धारण करना, ज्ञान का अभ्यास करना सफल है; अभिमानी का निष्फल है। अभिमानी को जिनेन्द्र भगवान के गुणों में प्रीति नहीं होती, अन्य साधारण जनों की विनय करने की तो बात ही क्या है? मार्दव धर्म से जिनेन्द्र की भक्ति होती है, मार्दव धर्म कुमति का नाश करने वाला है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र विनय और व्यवहार विनय मार्दव धर्म से ही बढती है। मार्दव गुण के विकसित हो जाने पर परिणाम अत्यंत निर्मल हो जाते हैं। मार्दव धर्म का धारी मनुष्य तीनों लोकों को मोहित कर लेता है। मार्दव धर्म के धारी बालक का, बूढ़े का, निर्धन का, रोगी का, मूर्ख का तथा जाति कुलादि हीन का भी यथायोग्य प्रिय वचनों द्वारा तथा यथायोग्य स्थान द्वारा आदर सत्कार करने में कदाचित् नहीं चूकते। वे कभी न कोई उद्धतता का वचन कहते हैं और न कोई अन्य उद्धतता का व्यवहार ही करते हैं। वे सदैव ही उद्धतता रहित, अभिमान रहित, नम्रता तथा विनय सहित ही जगत में प्रवर्तते हैं। मार्दव धर्म सम्यक् दर्शन का मुख्य अंग है, ऐसा जान मुमुक्षुओं को उचित है कि मान कषाय को जीतें और मार्दव धर्म का चित्त में ध्यान करें और स्तवन करें।

सोरठा—मान महा विष रूप, करे नीच गति जगत में।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्राणी सदा ॥

३. उत्तम आर्जव—मन, वचन, काय इन तीनों योगों की सरलता का नाम आर्जव है। मायावी पुरुष के व्रत, संयम, तपश्चरणादि सभी निष्फल होते हैं। माया एक शल्य है, कषाय है। जिसके हृदय में शल्य है, वह बाह्य व्रतादि का पालन करते हुवे भी व्रती नहीं कहा जा सकता। आर्जव धर्म आत्मा का ही एक गुण है, जो माया कषाय के

अभाव हो जाने पर प्रगट होता है। आर्जव धर्म अतीन्द्रिय सुख का एक पिटारा है, संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान है। अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को प्राप्त कराने वाला है। आर्जव धर्म का धारक परमात्मा का अनुभव करने का संकल्प करता है, कषायों को जीतने और संतोष धारण करने का संकल्प करता है, जगत् के छल प्रपंच को दूर ही से त्यागता है, अपने आत्मा को असहाय चैतन्य मात्र जानता है। छल कपट तो वह करते हैं जो धन, संपदा, कुटुम्ब को अपनावें और संसार की कीचड़ में फंसे रहने में अपना हित समझें। जो संसार से ही उदासीन हैं, अपनी आत्मा को संसार परिभ्रमण से छुडाना चाहते हैं, वे तो सकल परद्रव्यों से अपने आत्मा को भिन्न, असहाय जानते हैं, वे काहे के लिये कपट करें ? क्यों जगत् के प्रपंच में फसें ? ऐसा जान मुमुक्षुओं को उचित है कि कुटिलता को त्याग आर्जव धर्म को धारण करें।

सोरठा—कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर ना बसैं।
सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु संपदा ॥

४. **उत्तम सत्य**—मीठे, हितमित, स्वपर हितकारी सत्य वचन बोलना, पर को संताप कारक कुवचनों का त्याग करना उत्तम सत्य है। सत्य वचन दया धर्म का कारण है, समस्त दोषों को दूर करने वाला है, इस भव तथा पर भव में सुख देने वाला है। सत्य वचन संसार में निरुपमेय है। सत्य धर्म से अन्य गुणों की महिमा बढ़ती है। सत्य धर्म से आपत्तियां नाश हो जाती हैं। ऐसा जान सदैव हित रूप और परिमित वचन कहो, दूसरों को दुख पहुंचाने वाले या दूसरे को किसी प्रकार की भी बाधा करने वाले वचन कदापि न कहो।

सोरठा—कठिन वचन मत बोल, परनिंदा और झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सत्यवादी जग में सुखी ॥

५. उत्तम शौच—कांक्षा भाव को दूर कर वैराग्य भाव युक्त होना शौच धर्म है, अन्तरङ्ग में लोभ कषाय के अभाव होने को और बाह्य में शरीर को पवित्र रखने को शौच कहते हैं। स्नान रूप बाह्य शौच गृहस्थियों के लिये ही है, मुनियों के लिये नहीं। शौच धर्म आत्मा का एक अखंड गुण है, लोभ कषाय के अभाव हो जाने पर प्रगट होता है। शास्त्रों के पठन पाठन से, उत्तम गुणों के मनन करने से, विचार करने से शौच धर्म होता है। माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यो के अभाव और क्रोध, मान, माया लोभ इन चार कषायों के त्याग से शौच धर्म होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना ही शौच धर्म होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना ही शौच धर्म है। आत्मा के निर्मल परिणाम होने से ही शौच धर्म होता है। शौच धर्म का ऐसा स्वरूप जान अपने निज स्वरूप में दृष्टि धार अशुभ परिणामो का अभाव कर, अपने आत्मा को शुद्ध करो।

सोरठा—धर हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सो।
शौच सदा निर्दोष, धरम बडो संसार में ॥

६. उत्तम संयम—पांचों इन्द्रिय और मन का निरोध करना, तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना संयम कहलाता है। यह संयम दो प्रकार का है—(१) इन्द्रिय संयम (२) प्राण संयम। इन्द्रियों के विषयों में राग भाव के अभाव को इन्द्रिय संयम कहते हैं। छह काय के जीवों की रक्षा करना प्राण संयम है। पंच व्रतों का धारण करना, पंच समिति का पालन करना कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय, तीनो योगो की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना, तथा इन्द्रिय विजय को ही परमागम में संयम कहा है। संयम की प्राप्ति बडी दुलर्भ है, संयम से सम्यक् दर्शन की पुष्टि होती है संयम बिना मनुष्य भव शून्य है, गुण

रहित है। संयम बिना यह जीव अनेक दुर्गतियों को प्राप्त होता है, संयम बिना दीक्षा ग्रहण करना, व्रत धारण करना, मुण्ड मुंडावना, नग्न रहना भेष धारना ये सब ही वृथा है। संयम ही जीव को इस भव में और परभव में शरण है। दुर्गति रूप सरोवर के शोषण के लिये संयम ही सूर्य के समान है। संसार परिभ्रमण का नाश बिना संयम कभी नहीं हो सकता। ऐसा जान संयम को यथा शक्ति धारण करो और निरंतर ऐसी भावना करो कि संयम बिना जीवन की एक घड़ी भी न जाने पावे।

सोरठा—काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन वश करो।
संयम रतन सभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं।

७. उत्तम तप—मान बड़ाई के भाव बिना, कर्म क्षय करने के निमित्त अनशनादि बारह प्रकार के तप करना, तथा इच्छा का निरोध करना उत्तम तप है, इच्छाओं का निरोध कर विषयों में राग घटाना तप है। तप से जीव का कल्याण होता है। तप काम, निद्रा, प्रमाद को नष्ट करने वाला है। इस प्रकार तप में से जैसा २ करने की अपनी सामर्थ्य होवे, वैसा ही तप करना चाहिये, अपना संहनन, बल वीर्य तथा देश काल की योग्यता देख कर ही तप करना चाहिये, जिस तप में उत्साह बढ़ता रहे और परिणामों की उज्वलता बढ़ती जावे वही तपश्चरण करना योग्य है। तप बारह प्रकार का होता है, छह बाह्य तप हैं छह अंतरङ्ग तप हैं।

सोरठा—तप चाहें सुरराय, कर्म शिखर को वज्र है।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करे निज सकति सम।

८. उत्तम त्याग—सर्व विभाव भावों का त्याग करना, निज चेतन स्वभाव का ग्रहण करना निश्चय त्याग है। व्यवहार में त्याग दान को कहते हैं। निःपरिग्रही होने के कारण मुनि शास्त्र व्याख्यान अर्थात्

से क्षमा, मान के अभाव से मार्दव, माया के अभाव से आर्जव, लोभ के अभाव से शौच, असत्य के अभाव से सत्यधर्म, कषायों के अभाव से संयम गुण, इच्छा के अभाव से तप गुण प्रगट होते हैं, परमें ममतारूप परिणामो के अभाव से त्याग धर्म होता है। परद्रव्यो से भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव आत्मा का अनुभव करने से आकिंचन्य धर्म प्रगट होता है। तीन वेद और छह कषाय के अभाव से तथा आत्म स्वरूप में ही प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचर्य धर्म प्रगट होता है। यह दश लक्षण धर्म आत्मा का स्वभाव है। समस्त क्लेश दुःख रहित स्वाधीन आत्मा का ही परिणमन है। इस का लाभ सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान से ही होता है। यह दशलक्षण धर्म मोक्ष का मूल है। मुनिराज इस का पूर्णतया पालन करते हैं, श्रावकों को भी यथा शक्ति अपनी अपनी योग्यतानुसार इस का पालन करना चाहिये। इस के पालन का फल समस्त संसार परिभ्रमण से छूट अनंतज्ञान, अनतदर्शन, अनंतसुख तथा अनंतवीर्य के धारक सिद्ध पद की प्राप्ति है।

इस प्रकार श्रावक और यति के धर्म का स्वरूप जान कर श्रावक धर्म को छोड सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप मुनि का धर्म अङ्गीकार करना योग्य है, ये साक्षात् मोक्ष का कारण है। निश्चय से आत्मा में न श्रावक धर्म है, न मुनि धर्म है, ऐसी वहां कोई कल्पना नहीं है—आत्मा तो शुद्ध है, चैतन्य रूप है, बुद्ध है, जिन है, केवल ज्ञान स्वभाव है, इस का स्वभाव रागादि परभावो से सर्वथा भिन्न है, अपने ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, अनादि अनंत है, इसमें संकल्प विकल्प के जाल नहीं हैं, यह सदा प्रकाशमान है। वास्तव में मोह तथा क्षोभ रहित शुद्ध आत्मा के ज्ञान स्वरूप जो आत्मा का परिणाम है वही धर्म है।

कदापि ग्रहण नहीं करता है, अल्प परिग्रह मे सन्तुष्ट रहता है, परिग्रह को दुःख देने वाला जान उसे अत्यन्त अस्थिर मानता है।

सोरठा—परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करें मुनि राज जी।
अशना भाव उच्छेद, घटती जान घटाइये।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य—समस्त विषयों से मुख मोड़ अपने ज्ञायक स्वभाव ब्रह्म कहिये आत्मा में चर्या करना अर्थात् प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य बडा दुद्धर व्रत है, विषय भोगों के लोलुपी संसारी जीव जो आत्म ज्ञान से रहित हैं, इस व्रत को धारण करने के लिये सामर्थ नहीं हैं।

स्त्री सभोग के त्याग तथा परम ब्रह्म आत्मा में ही रमण करने को उत्तम ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा अचिन्त्य है, ब्रह्मचर्य बिना समस्त काय क्लेश निष्फल है ब्रह्मचर्य व्रत को मन, वचन, काय द्वारा श्रद्धापूर्वक पालन करने से जीव परमात्मा पद को प्राप्त हो जाता है। यदि शील की रक्षा चाहते हो, उज्वल यश कीर्ति चाहते हो, यदि धर्म को निर्दोष पालन करना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो। जिस प्रकार अपनी आत्मा काम के राग से मलीन न होवे, वैसा ही प्रयत्न करो। इन्द्रिय जनित सुख से विरक्त होकर अन्तरङ्ग परमात्मा स्वरूप आत्मा की उज्वलता तथा निर्मलता को ही अवलोकन करो।

सोरठा—शील वाड नौ राख, ब्रह्म भाव अंतर लखो।
करि दोनो अभिलाख, करहु सफल नर भव सदा।

यह दश लक्षण धर्म कोई परवस्तु नहीं है, आत्मा का निज स्वभाव है। क्रोधादिक कर्म जनित उपाधियों के दूर होने पर स्वयमेव ही यह दस लक्षण रूप आत्मा का निज स्वभाव प्रगट हो जाता है। क्रोध के अभाव

से क्षमा, मान के अभाव से मार्दव, माया के अभाव से आर्जव, लोभ के अभाव से शौच, असत्य के अभाव से सत्यधर्म, कषायो के अभाव से संयम गुण, इच्छा के अभाव से तप गुण प्रगट होते हैं, परमें ममतारूप परिणामों के अभाव से त्याग धर्म होता है। परद्रव्यों से भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव आत्मा का अनुभव करने से आकिंचन्य धर्म प्रगट होता है। तीन वेद और छह कषाय के अभाव से तथा आत्म स्वरूप में ही प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचर्य धर्म प्रगट होता है। यह दश लक्षण धर्म आत्मा का स्वभाव है। समस्त क्लेश दुःख रहित स्वाधीन आत्मा का ही परिणमन है। इस का लाभ सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान से ही होता है। यह दशलक्षण धर्म मोक्ष का मूल है। मुनिराज इस का पूर्णतया पालन करते है, श्रावकों को भी यथा शक्ति अपनी अपनी योग्यतानुसार इस का पालन करना चाहिये। इस के पालन का फल समस्त संसार परिभ्रमण से छूट अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख तथा अनंतवीर्य के धारक सिद्ध पद की प्राप्ति है।

इस प्रकार श्रावक और यति के धर्म का स्वरूप जान कर श्रावक धर्म को छोड सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप मुनि का धर्म अङ्गीकार करना योग्य है, ये साक्षात् मोक्ष का कारण है। निश्चय से आत्मा मे न श्रावक धर्म है, न मुनि धर्म है, ऐसी वहां कोई कल्पना नहीं है—आत्मा तो शुद्ध है, चैतन्य रूप है, बुद्ध है, जिन है, केवल ज्ञान स्वभाव है, इस का स्वभाव रागादि परभावों से सर्वथा भिन्न है, अपने ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, अनादि अनंत है, इसमें संकल्प विकल्प के जाल नहीं हैं, यह सदा प्रकाशमान है। वास्तव में मोह तथा क्षोभ रहित शुद्ध आत्मा के ज्ञान स्वरूप जो आत्मा का परिणाम है वही धर्म है।

ऐसे धर्म के स्वरूप को समझ धर्म भावना को मानना चाहिये। धर्म ही परम रम का रसायन है, धर्म ही निधियों का भंडार है, धर्म ही कल्प वृक्ष है, धर्म ही कामधेनु गऊ है और धर्म ही चिन्ता मणि रत्न हैं। इस प्रकार जो जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रतिपादित धर्म को ग्रहण कर अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं, उन्हीं का जीवन सफल है। कहा है—

मोत्तूणं जिणक्खादं धम्मं सुह मिह दु णत्थि लोगम्मि।
स सुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो॥

अर्थ—देव, असुर, तियंच, नारकी व मानवों से भरे हुवे इस लोक में एक जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को छोड कर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तु नहीं है। जब मनुष्य जन्म पाया है तो यत्नाचार पूर्वक चारित्र का पालन कर, रत्नत्रय धर्म में दृढ़ भक्ति कर और शान्त भाव में श्रेष्ठ प्रीति कर।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्म चेतसो पुंसां जीवितं सफल भवेत्॥

मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्म कारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पाप कारिणः॥

अर्थ—हे प्राणी! तू यत्नपूर्वक धर्म का आचरण कर, मृतक के समान मत बन, जिन मनुष्यों के चित्त में सच्चा धर्म है उन ही का जीवन सफल है। जो धर्माचरण करने वाले हैं वे मरने पर भी अमर हैं, परन्तु जो मानव पाप मार्ग में चलने वाले हैं, वे जीते हुवे भी मृतक के समान हैं।

दो०—मुनि श्रावक के भेदतें, धर्म दोय परकार।
ताको सुनि चितवो सतत, गहि पावो भव पार॥
(जयचन्द)

छन्द—जे भाव मोह तैं न्यारे, दृगज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबैं जिय धारैं, तब ही सुख अचल निहारैं॥
सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिन की करतूत उचरिये।
ता को सुनि के भव प्राणी, अपनी अनुभूति पिछाणी॥

(दौलतराम)

याचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन याचे बिन चिन्तवैं, धर्म सकल सुख दैन॥

छन्द—धर्म सकल सुख दैन रैन दिन भवि जीवन मन भाता।
मिथ्या दर्शन ज्ञानचरणमय मत न सुहाता॥
वीतराग सर्वज्ञ देव गुरु धर्म अहिंसा जानो।
अनेकान्त सिद्धान्त सप्त तत्वन को कर श्रद्धानो॥

(भूधर दास)

दो०—भूधर कविकृत भावना, द्वादश जग परधान।
तापर इक अल्पज्ञ ने, छन्द रचे हित जान॥

एक दया उर धरो, करो हिंसा कछु नाहीं।
यति श्रावक आचरो, मरो मत अव्रत माहीं॥
रत्नत्रय अनुसरो, हरो मिथ्यात्व अंधेरा।
दशलच्छन गुण वरो, तरो दुख-नीर सवेरा॥
इक शुद्ध भाव घट जल भरो, डरो न सु पर विचार में।
ए धर्म पंच पालो नरो, परो न फिर संसार में॥

(बनारसी दास)

बोधि दुर्लभ भावना

उप्पज्जदि सरणाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स ।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥
उत्पद्यते सद्ज्ञानं येन उपायेन तस्योपायस्य ।
चिन्ता भवति बोधिः अत्यन्तं दुर्ल्लभं भवति ॥

अर्थ—जिस उपाय से सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस उपाय का चिंतवन करना अत्यन्त बोधि दुर्लभ भावना है, क्योंकि बोधि की प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है।

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु ।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति होदि सरणाणं ॥
कर्मोदयजपर्याया हेयं चायोपशमिकज्ञानं खलु ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चितिः भवति सद्ज्ञानम् ॥

अर्थ—चायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मोदय जनित पर्यायें पर द्रव्य हैं, इसी लिये त्याज्य हैं एक निजद्रव्य ही उपादेय है, ऐसा निश्चय सम्यक ज्ञान है।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा ।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥

मूलोत्तरप्रकृतयः मिथ्यात्वादयः असंख्यलोकपरिमाणाः ।
परद्रव्यं स्वकद्रव्यं आत्मा इति निश्चयनयेन ॥

अर्थ—निश्चयनय से कर्मों की अष्ट मूल प्रकृतियां तथा एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियां और मिथ्यात्वादि जो असंख्यात लोक परिमाण हैं, परद्रव्य हैं अर्थात् आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, निश्चय नय से एक निज आत्मा ही स्वद्रव्य है ।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि ।
चिंतेज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥
एवं जायते ज्ञानं हेयोपादेयं निश्चयेन नास्ति ।
चिन्तयेत् मुनिः बोधिं संसारविरमणार्थं च ॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति होती है । निश्चयनय से बोधि में न कोई हेय है और न उपादेय है । संसार परिभ्रमण से छूटने के लिये एक मुनि को इस बोधि भावना का चिन्तवन करना चाहिये ।

अनादि से यह संसारी जीव इस चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता चला आ रहा है । संसार में भ्रमण करते २ अनन्त परिवर्तन पूर्ण हो जाते हैं, परन्तु इसे एक यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई । अनादि काल से लेकर अनन्त काल तो इसका निगोद में वास रहा, वहां से इसका निकलना ऐसा हुवा जैसा कि भाड़ में भुनते हुवे चनों में से कोई एक आध उछट कर बाहर आ गिरता है । तब एकेन्द्री की पर्याय को धारण करता है, अब इस एकेन्द्री पर्याय से विकल त्रय होना दुर्लभ है, विकल त्रय से असैनी पंचेन्द्री होना, असैनी पंचेन्द्री से सैनी होना, सैनी

तिर्यंच से मनुष्य होना दुर्लभ है। मनुष्य में भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की परिपूर्णता, निरोग शरीर, सत्संग, धर्म श्रवण, धर्म का धारण और उसे फिर जन्म पर्यन्त निबाहना ये सब बातें महा दुर्लभ हैं, सब में अत्यन्त दुर्लभ है एक आत्मज्ञान, जिस से कि चित्त शुद्ध होता है। (अनादि काल से यह जीव पर्याय बुद्धि हो रहा है, कर्मोदय जनित पर्यायों को ही अज्ञान वश अपना स्वरूप मान ये मूढ प्राणी शुद्धात्मा की भावना से विमुख हैं, और अनंत ज्ञानादि स्वरूप मोक्ष के कारण वीतराग परमानंद रूप निज शुद्धात्मा उस का एक क्षण मात्र भी विचार नहीं करता, सदैव अति रौद्र ध्यान में ही लगा रहता है। चौरासी लाख योनियो में नाना प्रकार के दुख और ताप सहता हुवा भटकता रहता है। निज परमात्म तत्व के यथार्थ ज्ञान और ध्यान द्वारा उत्पन्न वीतराग परम आनंद रूप निर्व्याकुल अतिन्द्रिय सुख से विमुख हुवा नाना प्रकार के अनेक दुःखों को कर्म वश सहता हुवा भ्रमण करता है)। निज आत्म तत्व की भावना के परम शत्रु माता, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, धन धान्यादिक परपदार्थों के मोह जाल में फंसा रहता है, इसे यह बोध नहीं हो पाता कि वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही मेरे लिये उपादेय है, ये ही मेरा सच्चा हितु है, इस ज्ञान मे ही मोक्ष की सिद्धि होती है। कभी इस के चित्त में इस ज्ञान की भावना करने का विचार ही नहीं आता। वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान को ही आचार्यों ने सम्यक् ज्ञान कहा है, वीतराग कहने से वीतराग चारित्र भी आ जाता है और सम्यक् विशेषण से सम्यक् दर्शन भी आ जाता है। वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कह देने से सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीनों ही आ जाते हैं। सम्यक् ज्ञान के बिना इस जीव को मोक्ष नहीं होती। जैसे पानी को बहुत देर खूब मथते रहने पर भी चिकनाई की गंध तक भी नहीं आती, आवे भी कहां से? उस में क्या चिकनाई है, ऐसे ही बाहरी भेष में आडंबर में सम्यक्

ज्ञान नहीं है, सम्यक् ज्ञान के बिना महान तप करो, तो भी मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि सम्यक् ज्ञान का लक्षण वीतराग शुद्धात्मा की अनुभूति है, वही मोक्ष का मूल है, वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शनादि से भिन्न नहीं है। इस लिये चाहे सम्यक् ज्ञान कहिये चाहे रत्नत्रय कहिये, बात एक ही है। इन की प्राप्ति इस मोही, अज्ञानी संसारी जीव को बड़ी कठिनाई से होती है।

जो मुमुक्षु कर्मोदय जनित पर्यायों को तथा क्षयोपशमिक ज्ञान को, कर्मों की अष्ट मूल प्रकृतियों को और एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियों को तथा मिथ्यात्व को अपने से पर और भिन्न निश्चय से जानता है, और एक शुद्ध चिदानन्द रूप निज आत्मा को ही अपना स्वद्रव्य जानता है उसी के सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। निश्चय से बोधि में अर्थात् सम्यक् ज्ञान में कोई हेयोपादेयपना नहीं है। आत्मा ज्ञायक स्वभाव है सर्वांग ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान कहो चाहे आत्मा कहो दोनों एक ही बात है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा से ही होता है किसी अन्य द्रव्य से नहीं होता है, यह ज्ञान गुण जो बराबर पूर्वापर चला आ रहा है वही आत्मा है। अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिये निरंतर शुद्ध चिदानन्द स्वरूप ज्ञायक स्वभावी अपनी आत्मा की ही भावना करनी चाहिये। जो ऐसे निज रूप को सत्यार्थपने जानता है और मानता है, वही प्रति बुद्ध और ज्ञानी है, उसी को परम पद की प्राप्ति होती है।

सम्यक् ज्ञान की महिमा विचित्र है। सम्यक् ज्ञानी ही मोक्ष जाता है, सम्यक् ज्ञानी ही पाप को त्यागता है, सम्यक् ज्ञानी ही नये कर्म नहीं बांधता है, सम्यक् ज्ञान से ही चारित्र होता है। जिस शुद्ध परिणामी के हृदय में सम्यक् ज्ञान रूपी दीपक जलता रहता है, उसको जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मोक्ष मार्ग में चलते हुये कभी भी भ्रष्ट होने का या कुमार्ग में चले जाने का भय नहीं होता। अपने शुद्ध आत्म स्वरूप का

जानना ही श्रेष्ठ निश्चय सम्यक् ज्ञान है, इस ही से कर्मों का क्षय होता है, ये ही मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति का साधन है। जिस मिथ्यात्व रूप महा अन्धकार को चन्द्रमा नहीं मिटा सकता, सूर्य भेद नहीं सकता उस अज्ञानान्धकार को सम्यक् ज्ञान ही मिटाने के लिये सामर्थ्य है। मानव जन्म का यही सार है कि सम्यक् ज्ञान की भावना की जावे। यह सम्यक् ज्ञान पाप रूपी अन्धकार को हरने के लिये सूर्य के समान है, मोक्ष रूपी लक्ष्मी के निवास के लिये कमल के समान है, काम रूपी सर्प के कीलने के लिये मन्त्र के समान है, मन रूपी हाथी को वश करने के लिये सिंह के समान है, आपदा रूपी मेघों को उड़ाने के लिये पवन के समान है, समस्त तत्वों को प्रकाश करने के लिये दीपक के समान है तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों को पकड़ने के लिये जाल के समान है। पांचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर विनय और आचार सहित सम्यक् ज्ञान की भावना करने से आत्मकल्याण की प्राप्ति होती है। अन्तर आत्मा सम्यक् दृष्टि को निश्चिन्त होकर, सर्व राग द्वेषादि के झगड़े को छोडकर, चित्त को आनन्द देने वाले उत्तम आत्मज्ञान रूपी अमृत का पान सदा करना चाहिये।

इस लोक में मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ है, फिर शुद्ध चैतन्य के स्वरूप की रुचि रखने वाला मनुष्य होना उससे दुर्लभ है, उस से भी कठिन चैतन्य स्वरूप के बताने वाले शास्त्र का मिलना है, उस से भी कठिन उसके उपदेशक गुरु का लाभ होना है। यदि वह भी मिल जावें, तो भी चिन्तामणि रत्न के समान भेद विज्ञान की प्राप्ति होना दुर्लभ है। इस मनुष्य जन्म में ही रत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा जान हे भव्य जीवो! सम्यक् ज्ञान की भावना करो और अपने वीर्य को न छिपाकर संयम को धारण करो। इस महा दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर इसे वृथा

ही न गंमाओ। नित्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना ज्ञान के साथ विनय पूर्वक करो नहीं तो फिर पछताना होगा। इस भावना के मानने वाले महात्मा ज्ञान की प्राप्ति कर अपने निज शुद्ध आत्मतत्व का बोध प्राप्त करते हैं, रागद्वेषादि विभाव से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वभाव का मनन करते हैं, पूर्वबद्ध कर्म, आगामी कर्म, व वर्तमान कर्मों के उदय से अपने आत्मा को रहित देखते हैं और वे ही अपने दृढ़ वीतराग चारित्र के माहात्म्य के बल से चैतन्य ज्योतिमई आत्मीक शान्त रस से पूर्ण ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं।

दोहा—बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥
(जयचन्द्र)

छन्द—अंतिम ग्रीवक लोंकी हद, पायो अनत विरिया पद।
पर सम्यक् ज्ञान न लाध्यो, दुर्लभ निज में मुनि साध्यो॥
(दौलतराम)

दोहा—धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान॥

छन्द—एक जथारथ ज्ञान सुदुर्लभ है जग में अधिकाना।
थावर त्रस दुर्लभ निगोदतै नर तन संगति पाना॥
कुल श्रावक रत्नत्रय दुर्लभ अरु षष्टम गुण-थाना।
सब तैं दुर्लभ आतम ज्ञान सु जो जग माहिं प्रधाना॥
(भूधर दास)

विश्नु पद छन्द—दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रस गति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसैं, सो दुर्लभ प्राणी॥

उत्तम देश सुसगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ० संयम, पंचम गुण ठाणा ॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन, शुद्ध भाव करना ॥
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावै।
पाकर केवल ज्ञान नहीं फिर, इस भव में आवै ॥

(भगत राय)

—: साराँश :—

बारसअणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं।
आलोयणं समाही तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥
द्वादशानुप्रेक्षाः प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम्।
आलोचनं समाधिः तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥

अर्थ—ये द्वादश अनुप्रेक्षा अर्थात् बारह भावनायें ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना तथा समाधि रूप हैं, इस लिये निरंतर इन अनुप्रेक्षाओं को भावना चाहिये।

रत्तिदिवं पडिक्कमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥

रात्रिं दिवं प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं समाधिं सामायिकम् ।
आलोचनां प्रकरोति यदि विद्यते आत्मनः शक्तिः ॥

अर्थ—यदि अपने में आत्मशक्ति होवे, तो रात्रि दिवस प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करो।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥
मोक्षगता ये पुरुषा अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाम् ।
परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुनः पुनः तेभ्यः ॥

अर्थ—अनादि काल से लेकर आज तक जितने महान पुरुष मोक्ष गये हैं, वे इन बारह भावनाओं की बार २ भले प्रकार भावना करके गये हैं, इस लिये इन बारह भावनाओं को सम्यक् प्रकार बार २ नमस्कार करता हूँ।

किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तज्जाणह तस्स माहप्पं ॥
किं प्रलपितेन बहुना ये सिद्धा नरवरा गते काले ।
सेत्स्यन्ति येऽपि भविकाः तद् जानीहि तस्य माहात्म्यम् ॥

अर्थ—इस विषय में बहुत प्रलाप करने से क्या लाभ ? जितने भी महान पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुवे हैं और भविष्य में जितने भी भव्य जीव सिद्ध पद को प्राप्त होंगे वह सब इन भावनाओं का ही माहात्म्य जानों।

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं 'कुंदकुंदमुणिणाहें'।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥
इति निश्चयव्यवहारं यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथेन।
यः भावयति शुद्धमना सः प्राप्नोति परमनिर्वाणम् ॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नय पूर्वक, इन बारह भावनाओं का स्वरूप मुनियों के नाथ श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने कहा है, जो पुरुष शुद्ध मन से इन को भावता है, वह परमनिर्वाण अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य इन भावनाओं के कथन को समाप्त करते हुए बताते हैं कि जो इन बारह भावनाओं के स्वरूप को व्यवहार तथा निश्चय दोनों दृष्टि से चिंतवन करता है, वह पाप बुद्धि को त्याग देता है, संसार और देह के भोगों से विरक्त हो जाता है, यह बारह अनुप्रेक्षा वैराग्य की जननी ही हैं—इन भावनाओं के चिन्तवन से संसार शरीर तथा निज आत्मा का शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आंखों के सामने साक्षात झलकने लगता है। आत्मोन्नति के लिये इन भावनाओं का चिन्तवन आवश्यक है, तीर्थंकर भगवान भी इन का चिन्तवन किया करते हैं। प्रत्येक सम्यक् दृष्टि को इन का चिन्तवन सम्यक् प्रकार करना चाहिये, एक मुमुक्षु को मोक्ष मार्ग मे दृढता पूर्वक आरूढ करने में ये एक प्रबल कारण हैं। जो इन बारह भावनाओं को भाते हैं, उन के ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक, आलोचना तथा समाधि हुवा करती है, बारह भावना ही प्रत्याख्यानादि रूप हैं, अनादि काल से आज तक जो भी मोक्ष को गये हैं, वे इन्हीं बारह भावनाओं के चिंतवन का माहात्म्य और फल है, । जिन में शक्ति है और जिन के हृदय में अपने आत्म कल्याण

की सच्ची लग्न है, उन्हें चाहिये कि वे रात्रि दिवस इनका मनन किया करें। इन के चिन्तवन से समता भाव जागृत होगा, निज पर का विवेक होगा, भेदविज्ञान की प्राप्ति होगी, मोहान्धकार का नाश होगा, ज्ञान की प्राप्ति होगी, कर्मों का संवर और निर्जरा होगी—स्वात्मानुभव के साथ २ स्वात्म तल्लीनता भी होगी, परंपराय से परमात्म पद की प्राप्ति होगी।

पाठको के सुभीते के लिये प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, सामायिक और समाधि का भी कुछ संक्षेप सा विवरण यहां दे दिया जाता है—

प्रतिक्रमण—व्यवहार में प्रतिक्रमण गत दोषों के दूर करने के लिये उनका मनन रूप तथा अपनी निंदा रूप है। निश्चय से निज स्वभाव में तन्मय रूप है। जो कोई वचनो की रचना को छोड़ तथा रागद्वेष भावों को निवारण कर अपने ही शुद्ध आत्मा को ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो ज्ञानी पुरुष सर्व परद्रव्यों के आलंबन से रहित होकर, सर्व प्रकार की इच्छाओं को रोक कर, व्यवहार रत्नत्रय में सावधान होता हुवा, निश्चय रत्नत्रय जो कि वास्तव में शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप है और साक्षात् आत्मानुभव स्वरूप है, उस में निश्चलता पूर्वक तिष्टता हुवा अपने शुद्धात्मा को ध्याता है, वह वास्तव में प्रतिक्रमण रूप है, क्योंकि वह पूर्व में बांधे हुवे समस्त कर्मों से रागद्वेष बुद्धि का त्याग कर देता है। ये ही निश्चय प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान नाम त्याग का है। व्यवहार में भोजन त्याग, विषय सेवन त्याग, कषाय त्याग आदि को प्रत्याख्यान कहते हैं।

निश्चय से जब यह आत्मा अपने शुद्ध आत्म स्वरूप में आरूढ होता है और उसके रस में भीग जाता है, तब ही प्रत्याख्यान होता है, क्योंकि उस समय आप से ही सर्व रागद्वेषादि विभाव भाव छूट जाते हैं। इस प्रकार निश्चय प्रत्याख्यान शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव ही है; वह विचारता है, जैसे अपने शरीर से वस्त्र भिन्न हैं, वैसे ही यह सर्व उपाधि जनित कर्म सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले रागादि विभाव भाव भी मेरे शुद्धात्म स्वभाव से सर्वथा भिन्न हैं। यद्यपि व्यवहारनय से आगामी दोषों के न करने की प्रतिज्ञा ही, तथा दृढ़ संकल्प ही प्रत्याख्यान है, परन्तु निश्चय से अपने शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वही प्रत्याख्यान है। तथा जो पुरुष आगामी काल संबंधी सर्व ही शुभाशुभ भावों को और कर्मों को दूर कर अपने शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करता है उसके ही निश्चय प्रत्याख्यान कहा जाता है।

आलोचना—प्रमाद वश लगे हुवे दोषों को गुरु के पास जाकर निष्कपट रीति से कहना आलोचना है—जो मुनि अपने आत्मा को नो कर्म, द्रव्य कर्म तथा विभाव भाव और पर्याय रहित ध्याता है, उस के निश्चय आलोचना कही जाती है। जो मुनि वर्त्तमान में उदय आये हुवे कर्मों को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप से भिन्न अनुभव करता है तथा अपने अभेद रत्नत्रय में तन्मय होता है उसी के निश्चय आलोचना होती है तथा भाव और भाववान प्रदेशों की अपेक्षा एक ही हैं, इस प्रकार वह आलोचना करने वाला मुनि स्वयं आलोचना स्वरूप ही है। शुद्ध आत्म स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान करके जो अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होता है, उसके निश्चय से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना व चारित्र सब हैं।

समाधि—जो कोई अपने वीतराग भाव द्वारा वचनोच्चारण को त्याग कर अपनी आत्मा को ही ध्याता है, उस के परम समाधि कही जाती है। जब एक मुनि शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान के साथ शुभ और अशुभ समस्त आत्मा के बाहर द्रव्यों का आलंबन त्याग कर वीतराग धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान में निश्चलता पूर्वक तिष्टता है तो उस के निर्विकल्प समाधि भाव उत्पन्न होता है। यह समाधि भाव बहुत ही दुर्लभ है।

सामायिक—जो कोई राग द्वेप तथा अन्य विकार परिणामों को न करके अपने ही निज शुद्ध चिदानंद रूप आत्मा मे रमण करता है, उस के सामायिक होती है। वास्तव में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, समाधि और सामायिक यह सब ही आत्मा के निज शुद्ध आत्म स्वरूप में रमण करने का ही नाम है।

ये सब प्रतिक्रमण आदि इन बारह भावनाओ के चिन्तवन से ही होते हैं, इस से कर्मों की निर्जरा होती है, जो मुमुक्षु हैं उन्हें चाहिये कि वे सब संकल्प विकल्प को छोड़ अपने शुद्धात्म स्वरूप मे लीन होवें। जो भी महात्मा अनादि काल से लेकर आज तक मोक्ष में गये हैं वे सब इन ही बारह भावनाओ का चिन्तवन करके सिद्ध पद को प्राप्त हुवे हैं। इन भावनाओ को मनन किये बिना स्वात्म तल्लीनता नही होती—जो जो महात्मा इन द्वादशानुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करके परमात्म पद को प्राप्त हुवे हैं, उन्हें वारंवार नमस्कार हो वेजयवन्त होवे। ज्यादह कहने से क्या प्रयोजन ? जो भी सिद्ध हो चुके हैं और होवेंगे यह सब इन्हीं अनुप्रेक्षाओं का फल और माहात्म्य जानो—ऐसी विचित्र महिमा इन भावनाओं के

चिन्तवन की है। इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार दृष्टि से इन बारह भावनाओं का स्वरूप प्रातः स्मरणीय श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है, जो भव्य जीव शुद्ध मन करके इन का चिन्तवन और मनन करता है वह परम निर्वाण पद को प्राप्त होता है। जो शुद्धात्म पद की प्राप्ति के चाहने वाले हैं, उनको यही योग्य है कि इन भावनाओं के द्वारा वैराग्य भाव को प्राप्त हों, समस्त रागादिक विकल्पों के समूह को छोड़कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ध्यावें और विकारों पर दृष्टि न रक्खें। जब यह ज्ञानी सम्यक् दृष्टि सब कल्पनाओं को त्याग कर निर्विकल्प दशा में लीन रहता है तो केवल शुद्धात्मा का परम अनुभव प्राप्त करता है तथा उसी समय परम शुद्ध पारिणामिक भाव को भाता हुवा अथवा कारण समयसार को ध्याता हुवा उपादान वीर्य की प्रगटता से कार्य समयसार हो जाता है, ये ही उस का ध्येय है।

* समाप्तम् *

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२४	मालम	मालूम
८	१२	आध्यात्मिक	अध्यात्मिक
१२	६	आयु क्रम	आयु कर्म
१३	६	मतलब	ममत्व
१४	२२	ज्ञापक	ज्ञायक
१५	१२	विपर्यों	पर्यायों
१६	२४	भायन	भावन
२२	१८	कौई	कोई
३१	२	सचय	सचय करता
३२	१५	का	को
३४	१७	मानने	भावने
३५	१५	मानने	भावने
४०	७	रूप	ज्ञायक
५२	१६	वैक्रियक	वैक्रियक
५६	२२	व्यहार	व्यवहार
५७	१६	ज्ञात	ज्ञाता
६५	२०	किनह	किनहू
६८	२१	माथन	साधन
७०	३	दिये	दिपै
७३	१२	काम	काय
७५	१३	निद्य	निंद्य
७६	२४	वन्द	बन्ध
७७	२०	सतोप	संतोष
८१	५	६	६ नो
८६	८	का	की
८७	६	निचेपण	निक्षेपण
९४	६	पढने	आ पड़ने
९४	८	ढेश	दंश
१०४	१८	जिनवरैन्द्रै	जिनवरेन्द्रै
१०६	२०	प्रमाण	प्रणाम
११४	२२	अनुक्रय	अनुक्रम
११४	२०	शुक्त	शुक्ल
११७	१५	श्रवक	श्रावक
११८	२१	मद करने	मद नहीं करने
१२२	७	जीव का	जीवन की
१२३	१२	किचिन्मात्र	किंचित् मात्र
१२४	५	में	से
१२४	१८	को	की
१२६	१	मानना	भावना
१२८	१३	क्षायोपरामिक	क्षायोप शमिक
१३०	६	अति	आर्त्त
१३२	७	सूर्य	सर्प
१३३	१७	श्राव	श्रावक
१३६	१२	भागो	भोगो